संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० २६

आचार्य माणिक्यनन्दि विरचित

परीक्षामुखसूत्र

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

परीक्षामुखसूत्र

कृतिकार : आचार्य माणिक्यनंदि

संस्करण : २८ जून, २०१७

(आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)

आवृत्ति : ११००

वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर-एफ , इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा

भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी० लिट्०, पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक

ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

उक्त ग्रन्थ पूर्व में अनेकान्त ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना से प्रकाशित हुआ था। मन में विचार आया कि क्यों न इसे प्रमेय रत्नमाला के आधार पर सम्पूर्णता दी जाये तदनुरूप ब्रह्मचारी भाईयों ने इस कार्य को बड़ी मेहनत से करके दिया, अंतिम प्रूफ के लिए मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज के पास गया तब उन्होंने सुझाव दिया कि क्यों न इसमें सरल व्याख्या और जोड़ दी जाये जिससे पाठकों को समझना सहज हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पं० मोहनलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित कृति से संस्कृतार्थ तथा पं० हीरालालजी शास्त्री द्वारा अनुवादित-सम्पादित कृति प्रमेयरत्नमाला से विशेषार्थ दिया गया। एतदर्थ पूर्व प्रकाशक, सम्पादक, अनुवादक, संशोधक; सभी के प्रति हृदय के अंतस्थल से आभार ज्ञापित करते हैं।

उक्त समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका परीक्षामुख

आचार्य माणिक्यनन्दि जैन न्यायशास्त्र के महापण्डित थे। इनका परीक्षामुखसूत्र जैन न्यायशास्त्र का आद्य न्यायसूत्र है। इसके स्रोत का निर्देश करते हुए प्रमेयरत्नमाला में कहा गया है–

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥[1]

अर्थात् जिस धीमान् ने अकलंकदेव के वचन-सागर का मन्थन करके 'न्यायविद्यामृत' निकाला, उस माणिक्यनन्दि को नमस्कार है।

माणिक्यनन्दि नन्दिसंघ के प्रमुख आचार्य थे। धारानगरी इनकी निवासस्थली रही है, ऐसा प्रमेयरत्नमाला की टिप्पणी तथा अन्य प्रमाणों से अवगत होता है।[2]

शिमोगा जिले के नगरताल्लुके के शिलालेख नं० ६४ के एक पद्य में माणिक्यनन्दि को जिनराज लिखा है–

"**माणिक्यनन्दीजिनराजवाणीप्राणाधिनाथः परवादिमर्दी।**
चित्रं प्रभाचन्द्र इह क्ष्मायां मार्तण्डवृद्धौ नितरां व्यदीपि॥"

न्यायदीपिका में इनका 'भगवान' के रूप में उल्लेख किया गया है[3]। प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने इनका गुरु के रूप में स्मरण करते हुए इनके पदपंकज के प्रसाद से ही प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना करने का उल्लेख किया है। इससे माणिक्यनन्दी के असाधारण वैदुष्य का परिज्ञान होता है। माणिक्यनन्दी ने अकलंक के ग्रन्थों के साथ दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु का भी अध्ययन किया था। वस्तुतः माणिक्यनन्दि अत्यन्त प्रतिभाशाली और विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता हैं। 'सुदंसणचरिउ' के कर्ता नयनन्दि (वि० सं० ११००) के उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दी के गुरु का नाम रामनन्दी है और स्वयं नयनन्दी उनके शिष्य हैं। 'सुदंसणचरिउ' की प्रशस्ति में लिखा है–

---

१. प्रमेयरत्नमाला १।२ २. प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण पृ. १।

३. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारक–न्यायदीपिका, अभिनव धर्मभूषण

जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो तवायारणिट्ठाइलद्धाइजुत्तो।
णरिंदामरिंदेहिं णंदणंदी हुओ तस्स सीसो गणी रामणंदी ॥
असेसाण गंथाण पारंमि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो।
गुणावासभूवो सुतिल्लोक्कणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी ॥
पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंर्दि अणिंदिउ।
चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अबाहहो विरइउं बुह अहिणंदिउ ॥

अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में जिनेन्द्र-आगम के विशिष्ट अभ्यासी, तपस्वी, गणी रामनन्दी हुए। उनके शिष्य महापण्डित माणिक्यनन्दी हुए, जो कि सर्वग्रन्थों के पारगामी, अंगों के ज्ञाता एवं सद्गुणों के निवासभूत थे। नयनन्दी उनके शिष्य थे।

समय

प्रमेयरत्नमालाकार के पूर्वोक्त उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दी अकलंक के उत्तरवर्ती हैं और अकलंक का समय ई॰ सन् ७२०-७८० ई॰ माना गया है। अतएव माणिक्यनन्दी के समय की पूर्वावधि ई॰ सन् ८०० निर्बाध मानी जा सकती है। प्रज्ञाकारगुप्त भाविकारणवाद और अतीतकारणवाद स्वीकार करते हैं। माणिक्यनन्दी ने अपने परीक्षामुखसूत्र में इन दोनों कारणवादों का खण्डन किया है। यथा-

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम्॥[१]

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्॥[२]

षष्ठ अध्याय के ५७वें सूत्र में प्रभाकर गुरु की प्रमाणसंख्या का खण्डन किया गया है और इनका समय ई॰ सन् की ८वीं शती का प्रारम्भिक भाग है। इससे भी माणिक्यनन्दि के समय की पूर्वावधि ई॰ सन् ८०० है। आचार्य प्रभाचन्द्र (ई॰ सन् ११००) ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक टीका लिखी है। अतः प्रभाचन्द्र का समय (११वीं शती) इनकी उत्तरावधि है। ध्यातव्य है कि डॉ॰ दरबारीलाल कोठिया ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र के साक्षात् गुरु थे।[३] अतः

---

१. परीक्षामुखसूत्र, ३।५८-५९। २. सुदंसणचरिउ, प्रशस्ति, कडवक ९, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली। ३. आप्त परीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ३१, ३२, ३३, वीरसेवा मन्दिर-संस्करण, ई॰ १९४९

माणिक्यनन्दि उनसे कुछ पूर्ववर्ती (ई॰ १०२८ के लगभग) हैं।

आचार्य नयनन्दी ने अपने 'सुदंसणचरिउ' को वि॰ सं॰ ११०० में धारानरेश भोजदेव के समय में पूर्ण किया है और अपने को माणिक्यनन्दी का प्रथम शिष्य कहा है–

णिवविक्कमकालहो ववगएसु एयारहसंवच्छरसएसु।
तहिं केवलिचरिउ अमरच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण॥

अतएव माणिक्यनन्दि का समय नयनन्दी के समय वि॰ सं॰ ११०० से ३०–४० वर्ष पहले अर्थात् वि॰ सं॰ १०६०, ई॰ सन् १००३ (ई॰ सन् की ११वीं शताब्दी का प्रथम चरण) अवगत होता है।

रचना

माणिक्यनन्दि का एकमात्र ग्रन्थ 'परीक्षामुख' ही मिलता है। इस ग्रन्थ का नामकरण बौद्धदर्शन के हेतुमुख, न्यायमुख जैसे ग्रन्थों के अनुकरण पर मुखान्त नाम पर किया गया है।

परीक्षामुख में प्रमाण और प्रमाणाभासों का विशद प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार दर्पण में हमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई पड़ता है उसी प्रकार परीक्षामुखरूपी दर्पण में प्रमाण और प्रमाणाभास को स्पष्ट रूप से ज्ञात किया जा सकता है।

यह ग्रन्थ न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र आदि सूत्रग्रन्थों की तरह सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है।

इसके सूत्र सरल, सरस और गम्भीर अर्थ वाले हैं। इसकी भाषा प्राञ्जल और सुबोध है।

परीक्षामुख शब्द का अर्थ

यह पुस्तक यथार्थ पदार्थों की परीक्षा कराने के लिए मुख अर्थात् दरवाजे के समान है। जैसे मकान में प्रवेश करने के लिए दरवाजा मूल कारण होता है उसी तरह तत्त्वों की परीक्षा करने में यह 'परीक्षामुख' पुस्तक मूल है। इसलिए इसे परीक्षामुख कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इसके पढ़े बिना न्याय के अन्य ग्रन्थों में प्रवेश नहीं हो सकता है।

जिस शास्त्र के द्वारा वस्तु की वास्तविकता का निर्णय किया जाता है,

उसे न्याय शास्त्र कहते हैं। यह ग्रन्थ द्रव्यानुयोग का ग्रंथ है।

इस ग्रन्थ को लिखने का उद्देश्य–

१. सरलता से सभी को जैन न्याय का ज्ञान होना। २. जैनदर्शन के न्याय के साथ-साथ अन्य दर्शन की मान्यताओं का भी खण्डन करना। ३. न्याय के बड़े-बड़े ग्रन्थों में प्रवेश करने के लिए एक कुंजी बनाना।

समस्त ग्रन्थ में २०८ सूत्र हैं और यह छह समुद्देशों में विभक्त है।

प्रथम समुद्देश में १३ सूत्र हैं। इसमें प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के विशेषणों की सार्थकता, दीपक के दृष्टान्त से ज्ञान में 'स्व' और 'पर' की व्यवसायात्मकता की सिद्धि तथा प्रमाण की प्रमाणता की ज्ञप्ति को कथंचित् स्वतः और कथंचित् परतः सिद्ध किया गया है। हिताहित प्राप्ति-परिहार में समर्थ होने के कारण ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। अज्ञानरूप सन्निकर्ष आदि प्रमाणलक्षणों की मीमांसा की है। **द्वितीय समुद्देश में** १२ सूत्र हैं। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद, प्रत्यक्ष का लक्षण, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का वर्णन, अर्थ और आलोक में ज्ञान के प्रति कारणता का निरास, पदार्थ से ज्ञानोत्पत्ति का खण्डन, स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यता से ज्ञान के द्वारा प्रतिनियत विषय की व्यवस्था, ज्ञान के कारण को ज्ञान का विषय मानने में व्यभिचार का प्रतिपादन और निरावरण एवं अतीन्द्रियस्वरूप मुख्यप्रत्यक्ष का लक्षण प्रतिपादित किया गया है। **तृतीय समुद्देश में** ९७ सूत्र हैं। इसमें परोक्ष का लक्षण, परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद, उदाहरणपूर्वक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान का लक्षण, हेतु और अविनाभाव का स्वरूप, साध्य का लक्षण, साध्य के विशेषणों की सार्थकता, धर्मी का प्रतिपादन, धर्मी की सिद्धि के प्रकार, पक्षप्रयोग की आवश्यकता, अनुमान के दो अंगों का प्रतिपादन, उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान के अंग मानने में दोषोद्भावन, शास्त्र (वीतराग) कथा में उदाहरणादि के भी अनुमान के अवयव होने की स्वीकृति, अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान, हेतु के उपलब्धि और अनुपलब्धि, उपलब्धि के अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि तथा अनुपलब्धि के अविरुद्धानुपलब्धि और विरुद्धानुपलब्धि एवं अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर,

विरुद्धोपलब्धि के भी अविद्धोपलब्धि के समान विरुद्धव्याप्य, विरुद्ध–कार्य, विरुद्ध–कारण, विरुद्धपूर्वचर, विरुद्धउत्तरचर और विरुद्ध–सहचर, अनुपलब्धि के प्रथम भेद अविरुद्धानुपलब्धि के अविरुद्ध–स्वभावानुपलब्धि, व्यापकानुप–लब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलब्धि और सहचरानुपलब्धि; विरुद्धानुपलब्धि के विरुद्धकार्यानुपलब्धि, विरुद्ध–कारणानुप–लब्धि और विरुद्धस्वभावानुपलब्धि इन सभी का विशद प्रतिपादन है। बौद्धों के प्रति कारणहेतु की सिद्धि, आगमप्रमाण का लक्षण और शब्द में वस्तुप्रतिपादन की शक्ति का भी इसी समुद्देश में वर्णन है। **चतुर्थ समुद्देश में** ९ सूत्र हैं। इसमें प्रमाण के सामान्य–विशेष उभयरूप विषय की सिद्धि करते हुए सामान्य और विशेष के दो–दो भेदों का उदाहरण सहित प्रतिपादन किया गया है। **पञ्चम समुद्देश में** ३ सूत्र हैं। इसमें प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फल को बतलाकर उसे प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न सिद्ध किया है। **षष्ठ समुद्देश में** ७४ सूत्र हैं। इसमें प्रमाणाभासों का विशद वर्णन आया है। स्वरूपाभास, प्रत्यक्षाभास, परोक्षाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभि–ज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास, पक्षाभास, हेत्वाभास, हेत्वाभास के असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर भेद तथा उनके उदाहरण, दृष्टान्ताभास; दृष्टान्ताभास के भेद, बालप्रयोगाभास, आगमाभास, संख्याभास, विषयाभास, फलाभास तथा वादी और प्रतिवादी की जय–पराजयव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है।

टीकाएँ

इस पर उत्तरकाल में अनेक टीका–व्याख्याएँ लिखी गयी हैं। इनमें प्रभाचन्द्राचार्य का विशाल प्रमेयकमलमार्तण्ड, लघु अनन्तवीर्य की मध्यम परिमाण वाली प्रमेयरत्नमाला, भट्टारक चारुकीर्ति का प्रमेयरत्नमालालङ्कार एवं शान्ति वर्णी की प्रमेयकण्ठिका आदि टीकाएँ उपलब्ध हैं। परीक्षामुखसूत्र का प्रभाव आचार्य देवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक और आचार्य हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पर स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। उत्तरवर्ती प्रायः समस्त जैन नैयायिकों ने इस ग्रन्थ से प्रेरणा ग्रहण की है।

अनुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेदः

द्वितीय परिच्छेदः

तृतीय परिच्छेदः

चतुर्थ परिच्छेद:

पंचम परिच्छेद:

षष्ठ परिच्छेदः

आचार्य माणिक्यनन्दि विरचित

परीक्षामुखसूत्र

प्रथमः परिच्छेदः

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा और उद्देश्य

प्रमाणादर्थसंसिद्धि - स्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयो-र्लक्ष्म, सिद्धमल्पं लघीयसः ॥

अन्वयार्थ–(प्रमाणात्) प्रमाण–सम्यग्ज्ञान से **(अर्थसंसिद्धिः)** पदार्थ का सम्यक् निर्णय होता है तथा **(तदाभासात्)** उस प्रमाणाभास–मिथ्याज्ञान से **(विपर्ययः)** विपरीत होता है–पदार्थ का सम्यक् निर्णय नहीं होता है **(इति)** इसलिए **(तयोः)** उन दोनों–प्रमाण और प्रमाणाभास के **(सिद्धम्)** पूर्वाचार्यों से प्रसिद्ध पूर्वापर विरोध से रहित और **(अल्पं)** संक्षिप्त **(लक्ष्म)** लक्षण को **(लघीयसः)** अल्पबुद्धियों के हित के लिए **(वक्ष्ये)** मैं आचार्य माणिक्यनन्दी कहूँगा ।

संस्कृतार्थः–प्रमाणात् (सम्यग्ज्ञानात्) पदार्थानां निर्णयः प्रमाणाभासात् (मिथ्याज्ञानात्) पदार्थानामनिर्णयश्च जायते। अतो मन्दमतीनां बालकानां प्रबोधाय तयोः प्रमाणप्रमाणाभासयोः संक्षिप्तं पूर्वाचार्यप्रसिद्धम्वा लक्षणमहं ग्रन्थकारो माणिक्यनन्द्याचार्यः वक्ष्ये।

भावार्थ–प्रमाण से (सम्यग्ज्ञान से) अभीष्ट अर्थ की सम्यक् प्रकार से सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से (मिथ्याज्ञान से) इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती। इसलिए मैं प्रमाण और प्रमाणाभास का पूर्वाचार्य प्रसिद्ध एवं पूर्वापर दोष से रहित संक्षिप्त लक्षण को मंदबुद्धि वालों के हितार्थ कहूँगा।

विशेषार्थ–विप्रतिपत्ति नाम विवाद का अर्थात् अन्यथा जानने का है। प्रायः सभी मतावलम्बी लोग प्रमाण का स्वरूप, उसकी संख्या, प्रमाण का विषय और उसका फल भिन्न-भिन्न मानते हैं। न्यायशास्त्र के अभ्यासियों को

उनका जानना आवश्यक है, अतः यहाँ पर उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है–

प्रमाण के स्वरूप के विषय में विवाद इस प्रकार है–अर्हन्मतानुयायी जैन लोग स्व और अपूर्व अर्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण मानते है। कपिलमतानुसारी सांख्य लोग इन्द्रियवृत्ति/व्यापार को प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर प्रमाता/ज्ञाता के व्यापार को प्रमाण मानते हैं। भाट्ट नहीं जाने हुए पदार्थों के जानने को प्रमाण कहते हैं। बौद्ध अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यौग प्रमा/प्रमिति के करण को प्रमाण कहते हैं। वृद्ध नैयायिक कारकसाकल्य को प्रमाण कहते हैं और नवीन या लघु नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार प्रमाण के स्वरूप के विषय में विवाद है, इसी का नाम स्वरूपविप्रतिपत्ति है।

इसी प्रकार प्रमाण की संख्या के विषय में भी विवाद है–चार्वाक एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मानते हैं। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। नैयायिक उक्त तीन के साथ उपमान को मिलाकर चार प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर उक्त चार के साथ अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग इनके अतिरिक्त सम्भव ऐतिह्य आदि को प्रमाण मानते हैं। जैन लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण के भेद मानते हैं। इस प्रकार से प्रमाण की संख्या के विषय में सभी का विवाद है, इसी का नाम संख्याविप्रतिपत्ति है।

इसी प्रकार प्रमाण के विषय में भी विवाद है–कपिल और पुरुषाद्वैतवादी सामान्यतत्त्व को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। बौद्ध विशेषतत्त्व को ही प्रमाण का विषय मानते हैं। यौग स्वतन्त्र सामान्य और स्वतन्त्र विशेष दोनों को प्रमाण का विषय मानते हैं। मीमांसक अभेदरूप से सामान्य और विशेष को प्रमाण का विषय मानते हैं। जैन लोग कथञ्चित् सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को प्रमाण मानते हैं। यह प्रमाण की विषयविप्रतिपत्ति है।

इसी तरह प्रमाण के फल के विषय में भी विवाद है–कपिल और यौग प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न ही मानते हैं। बौद्ध प्रमाण से फल को अभिन्न ही मानते हैं। जैनलोग प्रमाण से फल को कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न मानते हैं । यह प्रमाण के फल की विप्रतिपत्ति है।

परीक्षामुख ग्रन्थ के लेखक कौन हैं ? परीक्षामुख ग्रन्थ के लेखक आचार्य माणिक्यनन्दी जी हैं। **इसमें किसका कथन है–प्रतिपाद्य विषय क्या है ?** इस ग्रन्थ में प्रमाण और प्रमाणाभास के लक्षणों का कथन है। **इसमें किसे कहने की प्रतिज्ञा की है ?** प्रमाण और प्रमाणाभास को इस ग्रन्थ में कहने की प्रतिज्ञा की है। **यह किस अनुयोग का ग्रन्थ है ?** परीक्षामुख द्रव्यानुयोग का ग्रन्थ है। **प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय किसे कहते हैं ?** जानने वाले अर्थात् ज्ञाता को प्रमाता कहते हैं। जानने रूप क्रिया या मात्र जानना यह प्रमिति है तथा जानने योग्य पदार्थ प्रमेय/ज्ञेय कहलाते हैं। **इस ग्रन्थ का नाम परीक्षामुख क्यों है ?** परीक्षानाम वस्तु स्वरूप के विचार करने का है। विवक्षित वस्तु का स्वरूप इस प्रकार है कि नहीं, अथवा अन्य प्रकार है, इस प्रकार से निर्णय करने को परीक्षा कहते है। इस ग्रन्थ में प्रमाण के स्वरूप आदि की परीक्षा की गई है और इसके द्वारा ही समस्त वस्तुओं की परीक्षा की जाती है तथा मुख–प्रवेशद्वार अर्थात् यह ग्रन्थ प्रमाण की परीक्षा के लिए प्रवेश द्वार के समान है इसलिए इस ग्रन्थ का नाम परीक्षामुख रखा गया है। **यह ग्रन्थ किस उद्देश्य से लिखा गया है ?** अव्युत्पन्न/मन्दबुद्धि लोग न्यायरूप समुद्र में सरलतापूर्वक अवगाहन/प्रवेश कर सकें, इसी उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया है। **मंगलाचरण में इष्टदेव को नमस्कार क्यों नहीं किया ?** ऐसी शंका नहीं करना चाहिए क्योंकि इष्टदेवता को नमस्कार मन और काया से भी किया जाना संभव है। संभव है वचन निबद्ध न करके मन से कर लिया हो अथवा काय से साष्टांग नमस्कार कर लिया हो। अथवा प्रमाण शब्द का अर्थ अरहंत परमेष्ठी भी होता है। मा–अन्तरंग और बहिरंगलक्ष्मी, आण शब्द–दिव्यध्वनि, प्र=उत्कृष्ट। मा च आण च माणौ, प्रकृष्टौ माणौ यस्य सः प्रमाणः। उत्कृष्ट लक्ष्मी और उत्कृष्ट वाणी सहित व्यक्ति अरहंत

भगवान् ही हैं। अत: उनसे ही पदार्थ की सम्यक् सिद्धि होती है अन्य आप्ताभासों से नहीं। इस प्रकार यहाँ प्रमाण शब्द का अर्थ अरिहंत हुआ। **प्रमाण और प्रमाणाभास किसे कहते हैं** ? सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और मिथ्याज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं। **पदार्थ किसे कहते हैं** ? पद के अर्थ को पदार्थ कहते हैं अथवा क्षायोपशमिक एवं क्षायिकज्ञान दर्शन से जो भी विश्व में देखने और जानने में आता है, वह सब पदार्थ है। **'लघीयस' से क्या प्रयोजन है** ? लघीयस शिष्यों के प्रयोजन से कहा जा रहा है। लाघव तीन प्रकार का होता है बुद्धिकृत, शरीरकृत, कालकृत। इनमें से यहाँ पर बुद्धिकृत लाघव ग्रहण करना चाहिए क्योंकि जो बुद्धि से लघु हैं, मन्दबुद्धि हैं वे ही प्रकृत में विवक्षित हैं। **'अल्प' से क्या प्रयोजन है** ? यहाँ ग्रन्थ के परिमाण की अपेक्षा अल्पता कही गयी है किन्तु अर्थ की दृष्टि से यह महान् है। **लक्षण किसे कहते हैं** ? १.मिले हुए बहुत से पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को जुदा करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। २. जिसके अभाव में द्रव्य का ही अभाव हो जाये वही उसका लक्षण है। ३. जिसके द्वारा पदार्थ लक्षित किया जाता है वह भी लक्षण है। **ग्रन्थ में (परीक्षामुख में) कितने सूत्र एवं परिच्छेद हैं**? ग्रन्थ में २०८ सूत्र एवं ६ परिच्छेद (समुद्देश) हैं। **ग्रन्थ कैसे होते हैं** ? ग्रन्थ सम्बन्ध, अभिधेय/वाच्य अर्थ, शक्यानुष्ठान एवं इष्ट प्रयोजन वाले होते हैं। **प्रयोजन कितने प्रकार का होता है** ? साक्षात् प्रयोजन और परम्परा प्रयोजन के भेद से प्रयोजन दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत मंगलाचरण में 'वक्ष्ये' इस शब्द के द्वारा साक्षात् प्रयोजन और अर्थ संसिद्धि से परम्परा प्रयोजन कहा गया है। **कथा कितने प्रकार की होती है**? कथा दो प्रकार की होती है–१. वीतराग कथा–गुरु तथा शिष्यों में अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानों में तत्त्व के निर्णय होने तक जो आपस में चर्चा की जाती है वह वीतराग कथा है। २. विजिगीषु कथा–वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जय पराजय होने तक जो परस्पर में वचन प्रवृत्ति (चर्चा) होती है वह विजीगीषुकथा कहलाती है। **प्रस्तुत ग्रन्थ के ६ परिच्छेदों में किसका निरूपण है** ? प्रथम परिच्छेद में प्रमाण का लक्षण, द्वितीय परिच्छेद में प्रमाण के भेद, तृतीय परिच्छेद में परोक्षप्रमाण का लक्षण, चतुर्थ

परिच्छेद में प्रमाण का विषय, पंचम परिच्छेद में प्रमाण का फल, षष्ठ परिच्छेद में प्रमाणाभास के स्वरूप का निरूपण है। **सूत्र किसे कहते हैं** ?

अल्पाक्षरमसंदिग्धं, सारवद् गूढनिर्णयम्।
निर्दोष हेतुमत्तथ्यं सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थ—जिसमें अक्षर थोड़े हों, जो संशय रहित हो, सारभूत हो, जगत्प्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से युक्त हो, विस्तृत न हो और निर्दोष हो ऐसी शब्द रचना को सूत्रों के जानने वालों ने सूत्र कहा है।

प्रमाणस्य लक्षणम्

प्रमाण का लक्षण

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

अन्वयार्थ—**(स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं)** अपने आपके तथा जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले **(ज्ञानं)** ज्ञान को **(प्रमाणं)** प्रमाण कहते हैं।

सूत्रार्थ—अपने आपके और जिसे किसी अन्य प्रमाण से जाना नहीं है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

संस्कृतार्थ—यत्स्वमन्यपदार्थान् वा विजानाति तत् अथवा यत् स्वस्वरूपस्य पदार्थान्तरस्वरूपस्य वा निर्णयं विदधाति तदेव प्रमाणं (सम्यग्ज्ञानं) प्रोच्यते। तथा चानुमानम् प्रमाणं स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानमेव प्रमाणत्वात्, यत्तु स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं न भवति तन्न प्रमाणं यथा संशयादिः घटादिश्च प्रमाणं च विवादापन्नं, तस्मात्स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम्।

टीकार्थ—जो अपने आपको अथवा अन्य पदार्थों को जानता है वह प्रमाण कहलाता है अथवा जो अपने स्वरूप के और अन्य पदार्थों के स्वरूप के निर्णय को विशेष रूप से धारण करता है, वह ही प्रमाण कहा जाता है अर्थात् जिसके द्वारा प्रकर्ष से अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के व्यवच्छेद (निराकरण) से वस्तु तत्त्व जाना जाये वह प्रमाण कहलाता है।

इस सूत्रवाक्य में अनुमान-प्रयोग के द्वारा प्रमाण की प्रमाणता का निरूपण

किया गया है जैसे–स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, प्रमाणता होने से। परन्तु जो स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं है वह प्रमाण नहीं होता है। जैसे–संशयादि और घटादि। विवाद को प्राप्त प्रमाण है, इसलिए स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है।

अब उक्त प्रयोग का खुलासा इस प्रकार है–स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणता उसमें पाई जाती है, जो स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं हैं वह प्रमाण भी नहीं हैं। जैसे–संशयादि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान नहीं हैं अतः प्रमाण नहीं है, तथा जैसे–घट-पटादिक स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं है अतः वे भी प्रमाण नहीं हैं। यतः प्रमाण स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक होता है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है। यहाँ प्रमाणत्वरूप हेतु का कथन असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि प्रमाण का स्वरूप मानने वाले किसी भी वादी को प्रमाण सामान्य के मानने में कोई भी विवाद नहीं है। यदि प्रमाण को न माना जाये तो अपने इष्टतत्त्व का साधन और अनिष्टतत्त्व का दूषण नहीं बन सकता है उपर्युक्त सूत्र में प्रमाण पद विशेष्य है और शेष पद विशेषण है, जो अन्य मत वालों के द्वारा मान्य प्रमाण के स्वरूप का निराकरण/निरास करते हैं।

विशेषार्थ–धर्मी (पक्ष)–प्रमाण पद, साध्य–स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मक ज्ञान, हेतु–प्रमाणत्व, दृष्टान्त–संशयादि, उपनय–प्रमाणत्व होने से निगमन–प्रमाण सामान्य मानने में कोई भी विवाद नहीं है। जो अपने आपको जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है अर्थात् अपने स्वरूप का तथा पर पदार्थों के स्वरूप का निर्णय करता है वही प्रमाण या सच्चा ज्ञान कहा जाता है। **सूत्र में ज्ञान विशेषण क्यों दिया है** ? नैयायिक मतावलम्बियों के द्वारा मान्य अज्ञानरूप सन्निकर्ष की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए सूत्र में ज्ञान विशेषण दिया है जो सार्थक है। **सूत्र में व्यवसायात्मक विशेषण क्यों दिया है** ? बौद्धों के द्वारा मान्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए अर्थात् जिस ज्ञान में विकल्प ही नहीं फिर भी वह संशय का निराकरण कैसे करेगा। इसलिए जैनाचार्य ने व्यवसायात्मक

(निश्चायक) विशेषण दिया है। **सूत्र में 'अर्थ' विशेषण क्यों दिया है** ? विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी, शून्यैकांत-वादियों के द्वारा मान्य प्रमाण के स्वरूप का निराकरण करने के लिए 'अर्थ' पद को ग्रहण किया है। **अर्थपद के साथ अपूर्व विशेषण क्यों दिया है** ? ग्रहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता के परिहार के लिए सूत्र में अपूर्व विशेषण दिया है। **'स्वपद' का सूत्र में ग्रहण क्यों किया है**? परोक्षज्ञानवादी मीमांसकों, अस्वसंवेदनज्ञानवादी सांख्यों और ज्ञानान्तर प्रत्यक्षवादी यौगों के मतों के निराकरण करने के लिए स्वपद का सूत्र में ग्रहण किया गया है।

सरल व्याख्या—मिले हुए बहुत से पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को जुदा करने वाले हेतु को **लक्षण** कहते हैं।

लक्षण या स्वरूप एक ही बात है। इसे ही परिभाषा कहते हैं।

लक्षण को जाने बिना किसी भी पदार्थ का सही ज्ञान नहीं हो पाता है इसलिए इस सूत्र में प्रमाण का लक्षण बताया है।

इस परिभाषा में दो ही बातें मुख्य रूप से बतायी गयी हैं (१) स्व का निश्चय करना (२) अपूर्वार्थ का निश्चय करना ।

'स्व' शब्द न्याय, सांख्य, मीमांसा और योग दर्शन का खंडन करने के लिए आया है ये सभी दर्शन यह मानते हैं कि पदार्थ के ज्ञान के समय स्वयं का ज्ञान नहीं होता है।

अर्थ के पहले अपूर्व विशेषण गृहीतग्राही [ग्रहण को ही ग्रहण करने वाला] धारावाहिक ज्ञान का निराकरण करने के लिए आया है।

'अर्थ' शब्द उन मतों का निराकरण करने के लिए आया है जो यह मानता है कि बाहरी पदार्थ नहीं हैं। विज्ञान अद्वैतवादी, पुरुष अद्वैतवादी शून्य एकान्तवादी और मायावादी पूरी ज्ञानमय सृष्टि को ब्रह्ममय, शून्यमय और मायामय मानते हैं।

'व्यवसाय' शब्द बुद्ध मत का निराकरण करने के लिए है, जो कि यह मानता है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है।

सूत्र में व्यवसायात्मक विशेषण बौद्धों द्वारा मान्य निर्विकल्प प्रत्यक्ष की प्रमाणता का निराकरण करने के लिए है अर्थात् जिस ज्ञान में विकल्प ही नहीं फिर वह संशय का निराकरण कैसे करेगा? इसलिए जैनाचार्यों ने व्यवसायात्मक विशेषण दिया है।

'ज्ञान' शब्द नैयायिकों के सन्निकर्ष प्रमाण का खंडन करने के लिए आया है।

जैनदर्शन के अनुसार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रमाण हैं।

अब आगे अपने कहे गये प्रमाण के लक्षण में जो ज्ञान यह विशेषण दिया है, उसका समर्थन करते हुए आचार्य भगवन् उत्तर सूत्र कहते हैं।

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥

अन्वयार्थ–(हि) जिस कारण से **(प्रमाणं)** प्रमाण **(हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थं)** सुख की प्राप्ति और दुःख का निराकरण करने में समर्थ है **(ततः)** उस कारण से **(तत्)** वह प्रमाण **(ज्ञानं)** ज्ञान **(एव)** ही हो सकता है।

सूत्रार्थ–सुख और सुख के कारण की प्राप्ति तथा दुःख और दुःख के कारण का परिहार करने में समर्थ, प्रमाण है, वह प्रमाण 'ज्ञान' ही हो सकता है, 'सन्निकर्ष' आदि नहीं।

संस्कृतार्थ–इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। स च सन्निकर्षोऽचेतनो विद्यते। अचेतनाच्च सुखावाप्तिः दुःखविनाशो वा न जायते, अतः सन्निकर्षः प्रमाणं नो भवेत्। परंतु ज्ञानात्सुखावाप्तिः दुःखविनाशो वा जायते, अतो ज्ञानमेव प्रमाणम्। यतः सुखावाप्तौ दुःखविनाशे वा यत् समर्थं तदेव प्रमाणं प्रोक्तम्।

अस्यानुमानप्रयोगश्चेत्थम्–प्रमाणं ज्ञानमेवेति प्रतिज्ञा, हिताहित-प्राप्तिपरिहारसमर्थत्वादिति हेतुः, हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि ज्ञानं, नान्यत्, यथा घटादयः इत्युदाहरणम्। तथा चेदमित्युपनयः तस्मात्तथेति निगमनम्।

टीकार्थ–इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध **सन्निकर्ष** है और वह सन्निकर्ष अचेतन होता है और अचेतन से सुख की प्राप्ति अथवा दुःख का विनाश नहीं होता है। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता। परंतु ज्ञान से सुख की प्राप्ति और दुःख का विनाश होता है। इसलिए ज्ञान ही प्रमाण है, जो सुख की प्राप्ति होने में और दुःख के विनाश करने में समर्थ है। उस ज्ञान को ही प्रमाण कहते हैं।

विशेषार्थ–''प्रकर्षणे मीयतेऽनेन इति प्रमाणं''अर्थात् जो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित होकर वस्तु के स्वरूप को जानता है वह प्रमाण कहलाता है। **सन्निकर्ष को प्रमाण कौन मानता है** ? नैयायिक मत वाले इसे प्रमाण मानते हैं। **सूत्रोक्त कथन का अनुमान प्रयोग इस प्रकार है–**प्रमाण ज्ञान ही है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह हित की प्राप्ति और अहित के परिहार करने में समर्थ है (हेतु)। जो वस्तु ज्ञानरूप नहीं है, वह हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में भी समर्थ नहीं है जैसे–घटादिक (उदाहरण)। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ विवादापन्न प्रमाण है (उपनय), अतः वह ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है (निगमन)। सूत्रोक्त अर्थ का यह पञ्च अवयवरूप अनुमान-प्रयोग है। इसमें प्रयुक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि विचारपूर्वक कार्य करने वाले बुद्धिमान् लोग हित की प्राप्ति और अहित का परिहार के लिए प्रमाण का अन्वेषण करते हैं, व्यसनरूप से नहीं, यह बात सभी प्रमाणवादियों ने स्वीकार की है।

सरल व्याख्या–इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। वह सन्निकर्ष जड़ /अचेतन होता है।

नैयायिक मत वाले सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं उनके मत के खंडन के लिए यह सूत्र दिया है।

अचेतन जड़ के द्वारा सुख की प्राप्ति एवं दुःख का परिहार नहीं होता इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हो सकता, लेकिन ज्ञान से सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार होता है इसलिए ज्ञान ही प्रमाण है।

प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, अतः व्यवसायात्मक नहीं ऐसा कहने वाले बौद्धों

को लक्ष्य में रखकर यह तृतीय सूत्र कहते हैं।

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥

अन्वयार्थ—(समारोपविरुद्धत्वात्) समारोप के विरोधी होने से **(अनुमानवत्)** अनुमान के समान **(तत्)** वह ज्ञान **(निश्चयात्मकं)** निश्चयात्मक है।

सूत्रार्थ—वह ज्ञान निश्चयात्मक है समारोप का विरोधी होने से, जैसे अनुमान।

संस्कृतार्थ—यथा समारोपविरुद्धत्वाद् बौद्धाङ्गीकृतमनुमानं तन्मते निश्चयात्मकं, तथार्हन्मते समारोपविरुद्धत्वात्प्रमाणमपि निश्चयात्मकम्।

टीकार्थ—जैसे समारोप का विरोधी होने से बौद्धों के द्वारा स्वीकार अनुमान उनके मत में निश्चयात्मक है। उसी प्रकार अर्हन्त (जिन) के मत में समारोप का विरोधी होने से प्रमाण/ज्ञान भी निश्चयात्मक है।

विशेषार्थ—बौद्ध अनुमान को पदार्थों का निश्चय करने वाला मानता है और प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक अर्थात् अनिश्चयात्मक/निश्चय नहीं करने वाला मानता है। परन्तु जैनों ने सभी प्रमाणों को स्व और पर का निश्चयात्मक/निश्चय करने वाला माना है। यही बतलाने के लिए बौद्धों के द्वारा माने हुए अनुमान का दृष्टान्त देकर सभी प्रमाणों को निश्चयात्मक सिद्ध किया गया है। जबकि बौद्धों ने अनुमान को निश्चयात्मक माना है तो प्रत्यक्ष को भी निश्चयात्मक मानना चाहिए। क्योंकि जो किसी पदार्थ का तथा अपना निर्णय निश्चयरूप से नहीं करेगा वह प्रमाण कैसे हो सकता है। **समारोप किसे कहते हैं** ? संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं। **सूत्र में अनुमान का दृष्टान्त क्यों दिया है** ? बौद्ध लोग प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं और अनुमान को पदार्थों का निश्चय करने वाला मानते हैं। इसलिए जब आप अनुमान को निश्चयात्मक मानते हो तो प्रत्यक्ष को भी निश्चयात्मक मानना चाहिए। **अनुमान किसे कहते हैं** ? साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। **जिन (अर्हन्त) किसे कहते हैं** ? जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होते हैं, उन्हें जिन कहते हैं। **आर्हतमत की मुख्य विशेषता**

क्या है ? अहिंसा, रत्नत्रय, अनेकान्त, स्याद्वाद, अपरिग्रहता। **संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय किसे कहते हैं** ? दो तरफ ढलता हुआ निर्णय रहित ज्ञान **संशय** कहलाता है। जैसे यह सीप है या चाँदी, ठूँठ है या पुरुष। यथार्थ से विपरीत वस्तु का निश्चय कराने वाले ज्ञान को **विपर्यय** कहते हैं। जैसे रस्सी में साँप का या स्वर्ण में पीतल का ज्ञान। नाम, जाति, संख्यादि के विशेष परिज्ञान न होने से अनिर्णीत विषय वाले ज्ञान को **अनध्यवसाय** कहते हैं। जैसे चलते समय स्पर्श हुए पत्थर या तृण वगैरह में कुछ है ऐसा ज्ञान।

सरल व्याख्या—बौद्ध अनुमान को पदार्थों का निश्चय करने वाला मानते हैं और प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक अर्थात् निश्चय रहित मानते हैं, परन्तु जैनों ने सब ही प्रमाण अपने तथा पर के निश्चय करने वाले माने हैं, बस यही दिखलाने को उन्हीं के द्वारा माने हुए अनुमान का दृष्टान्त दिया है और सभी प्रमाणों को निश्चयात्मक सिद्ध कर दिया है।

अब आगे प्रमाण के लक्षण में अर्थपद को जो अपूर्व विशेषण दिया है उसका समर्थन करते हुए आचार्य उसके अर्थ का स्पष्टीकरण कहते हैं–

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥

अन्वयार्थ—**(अनिश्चितः)** जिसका निश्चय न हो वह **(अपि)** भी **(अपूर्वार्थः)** अपूर्वार्थ है।

सूत्रार्थ—जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं।

संस्कृतार्थ—कस्माच्चिदपि सम्यग्ज्ञानात् यस्य पदार्थस्य कदापि निर्णयो न जातः सः अपूर्वार्थो निगद्यते। प्रमाणं तमेव निश्चिनोति। अतो यज्ज्ञानं कस्माच्चित्प्रमाणाद् विज्ञातं पदार्थं विजानाति तन्न प्रमाणम्। यतस्तेन तस्य पदार्थस्य निश्चयो न विहितः, किन्तु निश्चितमेव विज्ञातम्।

टीकार्थ—किसी भी सम्यग्ज्ञान से जिस पदार्थ का कभी निर्णय नहीं हुआ है, वह अपूर्वार्थ कहा जाता है। प्रमाण उस पदार्थ का ही निश्चय करता है। इसलिए जो ज्ञान किसी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ को जानता है वह प्रमाण नहीं है इसलिए उसके द्वारा उस पदार्थ का निश्चय नहीं होता

किन्तु निश्चित को ही जानता है।

विशेषार्थ–जैनों के द्वारा माने गए ईहा, अवाय और धारणा के द्वारा जाने गए पदार्थ भी गृहीतग्राही हैं अतः उत्तर-उत्तर ज्ञान का विषयभूत पदार्थ अपूर्व नहीं माना जा सकता और इसलिए उन्हें प्रमाण भी नहीं मानना चाहिए ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते यद्यपि अवग्रह से जाने हुए पदार्थ को ही ईहा और ईहा से जाने हुए पदार्थ को ही अवाय विषय करता है तथापि उनके विषयभूत पदार्थ में अपूर्वता बनी रहती है, क्योंकि उन ज्ञानों का विषय उत्तरोत्तर अवान्तर विशेषताओं को जानता है इसलिए ईहा आदि का विषय अपूर्वार्थ ही है। **अपूर्वार्थ किसे कहते हैं** ? जिस वस्तु का संशयादि के व्यवच्छेद/निराकरण करने वाले किसी अन्य प्रमाण से पहले निश्चय नहीं हुआ है अर्थात् जो वस्तु किसी यथार्थग्राही प्रमाण से अभी तक जानी नहीं गई है, उसे अपूर्वार्थ कहते हैं। **सूत्र में अपूर्व विशेषण क्यों दिया है** ? गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता के परिहार करने के लिए अर्थात् जो वस्तु किसी प्रमाण के द्वारा पहले जानी जा चुकी है, उसको पुनः किसी ज्ञान के द्वारा जानना व्यर्थ है। इस बात के दिखाने के लिए ही अपूर्व विशेषण पहले सूत्र में दिया गया है।

सरल व्याख्या–जो ज्ञान जाने हुए पदार्थ को जानता है, वह प्रमाण नहीं होता क्योंकि उसने पदार्थ का निश्चय ही नहीं किया किन्तु निश्चित पदार्थ का ही निश्चय किया है इसलिए वह अपूर्वार्थ नहीं है।

जिस वस्तु को पहले किसी प्रमाण द्वारा जाना जा चुका है उसको पुनः किसी ज्ञान के द्वारा जानना व्यर्थ है इसलिए प्रमाण उसी का निश्चय करता है जो अपूर्व पदार्थ होता है।

आचार्य गुरुदेव ने जब परीक्षामुख ब्रह्मचारी अवस्था में सिद्धवरकूट क्षेत्र पर १९९७ में पढ़ाई थी उस समय पर एक चिन्तन दिया था–''सिद्ध भगवान् का सुख और ज्ञान अपूर्व होता है। प्रतिसमय सिद्धभगवान् के आत्म द्रव्य से नई-नई पर्याय निकलती है इसी का नाम अपूर्वता है। इसलिए उनका सुख भी अपूर्व होता है''। उनका ज्ञान अनिश्चित भूत एवं

भविष्य की पर्यायों को भी जानता है इसलिए उस केवलज्ञान में भी अपूर्वार्थ घटित हो जाता है।

अपूर्वार्थ क्या उक्त प्रकार का ही है अथवा अन्य प्रकार का भी है ऐसी जिज्ञासा होने पर यह सूत्र कहते हैं–

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥

अन्वयार्थ– (दृष्टः) अन्य प्रमाण से ज्ञात पदार्थ **(अपि)** भी **(समारोपात्)** समारोप होने पर **(तादृक)** उसके समान–अपूर्वार्थ के समान हो जाता है।

सूत्रार्थ–किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात भी पदार्थ समारोप–उस पदार्थ के विषय में संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय हो जाने से अपूर्वार्थ हो जाता है।

संस्कृतार्थ–केनापि प्रमाणेन विज्ञातेऽपि पदार्थे यदा संशयो, विपर्ययोऽनध्यवसायो वा जायते तदा सोऽप्यपूर्वार्थो निगद्यते, तथा च तस्य वेदकं ज्ञानमपि प्रमाणस्वरूपं भवेत्।

टीकार्थ–किसी भी प्रमाण के द्वारा ज्ञात पदार्थ में भी जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय हो जाता है तब वह भी अपूर्वार्थ कहा जाता है और उसी प्रकार उसको जानने वाला ज्ञान भी प्रमाण स्वरूप होता है।

विशेषार्थ–सूत्र में आये हुए अपि शब्द का क्या अर्थ है ? केवल अनिश्चित ही पदार्थ अपूर्वार्थ नहीं है अपितु प्रमाणान्तर से निश्चित या गृहीत पदार्थ में यदि संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि हो जाये तो वह भी अपूर्वार्थ है। **प्रमाणान्तर निर्णीत पदार्थ अपूर्वार्थ क्यों है** ? समारोप हो जाने से प्रमाणान्तर निर्णीत पदार्थ अपूर्वार्थ है। **सूत्र का अभिप्रायरूप अर्थ क्या है** ? किसी ज्ञान के द्वारा विषय रूप से ग्रहीत भी वस्तु यदि धूमिल आकार हो जाने से निर्णय न की जा सके तो वह भी अपूर्व नाम से ही कही जायेगी क्योंकि उसके विषय में समारोप उत्पन्न हो गया है।

सरल व्याख्या–प्रमाण के बाद निर्णय किये गये पदार्थ में भी संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय हो जाने पर अपूर्वार्थ है।

किसी ज्ञान के द्वारा विषय रूप से गृहीत भी वस्तु यदि धूमिल आकार हो जाने से निर्णय न की जा सके अर्थात् उसके विषय में समारोप उत्पन्न हो गया है, तो वह भी अपूर्वार्थ है।

देखी एवं जानी हुई या प्रमाणित हुई वस्तुओं में भी संशय आदि उत्पन्न हो जाता है।

दृष्टान्त—

संघश्री की कथा

मुण्डित वंश की परम्परा में राजा धनदत्त हुए जो सम्यग्दृष्टि थे। ग्राम, नगर, देशों में राजा ने जिनमन्दिर बनवाये और सामन्त आदि को श्रावक बनाया। उसी धान्यक नगर में किसी ने एक बुद्ध विहार बनवाया वहाँ बुद्ध श्री बौद्धभिक्षु रहता था। उसका शिष्य बौद्ध धर्म का उपासक संघश्री था। उसकी पत्नी कमल श्री और पुत्री विमलमति थी। पुत्री धनरजा की महादेवी हुई। वह जिनधर्म में रुचि रखती थी। संघश्री राजा का मंत्री और राजश्वसुर हो गया। एक बार विमलमती, संघश्री, धनराज के साथ महल के ऊपर धर्म और मुनि की कथा कर रहे थे तथी अपराह्न में दो चारण मुनि आकाश में गमन करते दिखे। उठकर सम्मान कर उनको समीप बुलाया और उनकी वन्दना भक्ति आदि की। राजा के कहने से ज्येष्ठ मुनि ने संघश्री को तत्त्व की बात बतायी और संघश्री को श्रावक बना दिया। दोनों मुनिराज चले गए। राजा ने कहा संघश्री सुबह तुम सभा में चारण मुनि की यह कथा सभी को सुनाना। प्रभो! मैं सब कुछ ऐसा ही करूँगा, ऐसा कहकर वह बुद्धश्री का अभक्त हो गया और बुद्ध विहारिका में शाम को गया तो नमस्कार नहीं किया। बौद्ध भिक्षु ने पूछा प्रणाम क्यों नहीं करते ? उसने चारण मुनि का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। हाहाकार करते हुए उसने यह सब झूठ कहा और एक कथा सुनायी। काशीदेश में वाराणसी नगरी के राजा उग्रसेन थे, रानी धनश्री थी। उनका पुरोहित सोमशर्मा था। उसकी पत्नी पद्मावती, पुत्री पद्मश्री थी, जो पिता की अतिप्रिय और कुमारी थी। सोमशर्मा परिव्राजक साधुओं का भक्त था, उसने मठ बनाया और बहुत से साधुओं को भोजन देता। उनमें एक

सुवर्णखुर नाम का परिव्राजक था जो रूपवान था, शास्त्रों का ज्ञाता था। कुमारी द्वारा तैयार भोजन उसने अच्छी तरह बैठकर किया और आकर उसके मठ में रूक गया। पद्मश्री ने भोजन करवाया तभी उसका संसर्ग हो जाने से वह उसे लेकर चला गया। पुरोहित ने ढूँढा बाद में राजा को कहा। राजा ने आदेश से कोतवाल उसे ढूँढ़कर ले आया। राजा ने धर्म पाठकों को पूछा इसका क्या किया जाय। उन्होंने कहा मार दो और भूमि पर गिरा दो। तब वह श्मशान में वृक्ष के सहारे लटकाकर मार दिया गया। रात्रि में गन्ध, पुष्प, पान आदि से युक्त होकर पद्मश्री ने उसका आलिंगन किया। यह सुनकर राजा ने उसे जलवा दिया। तब भी पद्मश्री ने उसकी भस्म से आलिंगन किया। पुरोहित ने वह भस्म नदी के बीच भंवर में फेंक दी। अब वह उस जल से सदा आलिंगन करती। जिस प्रकार से उस पद्मश्री को किंचित् भी सुख नहीं उसी प्रकार ये चारण आदि कुछ भी नहीं हैं, यह मात्र भ्रम है। उस राजा ने आपको इन्द्रजाल दिखाया है। वह इन्द्रजाली हैं, इसलिए तुम बुद्धधर्म मत छोड़ो। बार-बार उसे मिथ्या बताकर वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ और कहा सुबह तुम राजसभा में जाने पर भी मैंने इस प्रकार देखा, मत कहना। सुबह राजा ने सामन्त आदि को आकाश में चारण मुनि के आगमन की कथा सुनायी तथा पूछताछ करने के लिए राजा के आग्रह से संघश्री को बुलवाया। उससे पूछा तो कह दिया कि, मैंने तो नहीं देखा, ऐसा कहते ही उसकी दोनों आँखे जमीन पर गिर पड़ी। राजा ने कहा अभी भी सत्य कह दो, तब भी उसने कहा, मैंने नहीं देखा। ऐसा कहते हुए वह आसन से गिर पड़ा और वहीं भूमि में धँस गया। मरण कर नरक को प्राप्त हुआ और दीर्घ संसारी हुआ।

जो लोग ज्ञान को स्वव्यवसायी नहीं मानते, उनका कहना है कि ज्ञान को अपूर्वार्थ का निश्चायक भले ही माना जाये किन्तु स्वव्यवसायी हम नहीं मानते हैं। आचार्य उन लोगों को लक्ष्य करके उत्तर सूत्र कहते हैं–

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

अन्वयार्थ–(स्वोन्मुखतया) अपनी सन्मुखतापूर्वक **(स्वस्य)** अपने आपका **(प्रतिभासनं)** जानना **(व्यवसायः)** स्व व्यवसाय है।

सूत्रार्थ—स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना स्वव्यवसाय है।

संस्कृतार्थ—स्वस्योन्मुखतया प्रतिभासनं स्वव्यवसायो निगद्यते। अत्र अहमात्मानं जाने इति प्रतीतिः जायते।

टीकार्थ—अपने आपके अनुभव से होने वाली आत्म प्रतीति को स्वव्यवसाय कहते हैं। यहाँ 'मैं' अपने आपको जानता हूँ इस प्रकार की प्रतीति होती है।

विशेषार्थ—स्वोन्मुखता व स्वव्यवसाय किसे कहते हैं ? अपने आपको जानने के अभिमुख होना स्वोन्मुखता है तथा उस स्वोन्मुखता अर्थात् स्वानुभवरूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है वही स्वव्यवसाय कहलाता है अर्थात् अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है। **आत्मा किसे कहते हैं** ? अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। जो व्याप्त होकर जानता है, वह आत्मा है।

सरल व्याख्या—अपने आपको जानने के अभिमुख होना स्वोन्मुख होना है।

प्रतिभासन = प्रकाशन/प्रकाश करना अर्थात् जानना।

अपने आत्मा की प्रतीति को प्रतिभास कहते हैं।

अपने आपको जानना स्वव्यवसाय है।

जिस समय ज्ञान पदार्थ को जानता है उसी समय वह स्वयं को भी जानता है इसलिए समय भेद नहीं होने से हम कहते हैं कि ज्ञान ने स्व का भी निश्चय कर लिया।

स्वव्यवसाय का दृष्टान्त आचार्य सूत्र में कहते हैं—

अर्थस्येव तदुन्मुखतया ॥७॥

अन्वयार्थ—(अर्थस्य) अर्थ के **(इव)** समान **(तदुन्मुखतया)** उस आत्मा के अभिमुख होने से अर्थात् अपने स्वयं के उन्मुख होने से अपने स्वयं का ज्ञान होता है और वही स्वव्यवसाय है।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवसाय

है। उसी तरह स्व के उन्मुख होने से स्व को जानना स्वव्यवसाय कहलाता है।

संस्कृतार्थ—यथा यदा घटपटादिशब्दानां प्रतीतिः जायते तदा तज्ज्ञान-विषयभूतानां तत्तत्पदार्थानां ज्ञानमपि अस्माकमवश्यं जायते। तथा यदात्मानं प्रति लक्ष्यं जायते तदाऽऽत्मा किम्वस्तु विद्यते एतस्यापि ज्ञानमवश्यं जायते।

टीकार्थ—जिस प्रकार जब घट (घड़ा) पट (कपड़ा) इत्यादि शब्दों का हमें ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के विषयभूत उन-उन पदार्थों का ज्ञान भी हमें अवश्य होता है, यह अर्थव्यवसाय कहलाता है। उसी प्रकार जब आत्मा की ओर लक्ष्य जाता है, तब आत्मा क्या वस्तु है इसका भी ज्ञान अवश्य हो जाता है, अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्मनिश्चय होता है वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

सरल व्याख्या—उदाहरण—जिस प्रकार घट [घड़ा] पट [कपड़ा] इत्यादि शब्दों का हमें ज्ञान होता है तब उस शब्द के विषयभूत उन-उन पदार्थों का ज्ञान भी हमें अवश्य होता है उसी प्रकार जब 'आत्मा' इस प्रकार कहा जाता है तब आत्मा है, इसका भी ज्ञान अवश्य हो जाता है।

पदार्थ के अभिमुख होकर उसे जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं।

दृष्टान्त—जब कोई व्यक्ति दर्पण में अपना चेहरा देखता है तो वह दर्पण को और अपने मुख को एक साथ देखता है, उसी तरह ज्ञान जब किसी वस्तु को जानता है तो उस वस्तु को और स्वयं को एक साथ जानता है। एक साथ जानते हुए भी कथन पद्धति में अलग-अलग कहा जाता है। जैसे वह दर्पण की ओर उन्मुख है यह तो परोन्मुखता हुई और अपना चेहरा देख रहा है यह स्वोन्मुखता हुई।

पदार्थ को जानने के समय होने वाली प्रतीति के पूर्वोक्त कथन को अब आचार्य एक उल्लेख के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

घटमहमात्मना वेद्मि ॥८॥

अन्वयार्थ—(अहम्) मैं **(घटम्)** घड़े को **(आत्मना)** अपने द्वारा **(वेद्मि)** जानता हूँ।

सूत्रार्थ—मैं घड़े को अपने आपके द्वारा जानता हूँ।

संस्कृतार्थ—घटमहमात्मना वेद्मि। इति प्रतीतौ 'अहम्' 'आत्मना' वेति पदाभ्यां स्वव्यवसायं जायते तथा घटम्पदेन परपदार्थबोधो जायते। तथैव प्रमाणेन सर्वत्र स्वस्य परस्य वा बोधो जायते। अतएव प्रमाणं स्वपरनिश्चायकं निगदितम्।

टीकार्थ—घड़े को मैं अपने द्वारा जानता हूँ, इस प्रकार ज्ञान में अहम् (मैं) और आत्मना (अपने आपके द्वारा) इन दो पदों से स्व का निश्चय होता है और घटम् पद से पर पदार्थ का ज्ञान होता है। इसी प्रकार प्रमाण के द्वारा सर्वत्र स्व और पर का व्यवसाय (ज्ञान) होता है। इसलिए प्रमाण को स्व और पर का निश्चायक कहा है।

विशेषार्थ—मैं (कर्त्ता), घट को (कर्म), अपने ज्ञान से (करण), जानता हूँ (क्रिया)। ज्ञान के समय सर्वत्र इन चारों बातों की प्रतीति होती है। उनमें 'मैं' कहके अपनी प्रतीति होती है, इसी को ज्ञान के स्वरूप का निश्चय कहते हैं। क्योंकि यह आत्मा की प्रतीति है और वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस कारण 'मैं' पद के द्वारा ज्ञान अपने आप को जानता है। 'घट को' इस पद के द्वारा अपूर्वार्थ (परपदार्थ) की प्रतीति होती है। 'जानता हूँ' यह क्रिया की प्रतीति है, जिसे प्रमिति, अज्ञान निवृत्ति, ज्ञप्ति वा प्रमाणफल भी कहते हैं। और 'ज्ञान से' इस पद के द्वारा करणरूप प्रमाण की प्रतीति होती है जिसका फल अज्ञाननिवृत्ति है।

सरल व्याख्या—घड़े को मैं अपने द्वारा जानता हूँ इस प्रकार ज्ञान में (१) अहम् [मैं] (२) आत्मना [अपने आपके द्वारा] इन दो पदों के द्वारा स्व का निश्चय होता है।

घटम् पद से ''पर पदार्थ का'' ज्ञान होता है और अहम् कहने से 'स्व' का निश्चय होता है अर्थात् मैं घट जानता हूँ। इस तरह इस उदाहरण में प्रमाण के द्वारा स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान होता है।

अहम्–मैं=कर्त्ता, आत्मना–अपने से=करण, घटम्–घड़ा को=कर्म, वेद्मि–जानता हूँ=क्रिया।

ज्ञान केवल पदार्थ को ही जानता है अपने आपको नहीं जानता है ऐसी मान्यता नैयायिक मत वालों की है, इस मत के खण्डन के लिए यह सूत्र दिया है।

यहाँ पर नैयायिक कहते हैं कि ज्ञान केवल पदार्थ को ही जानता है, अपने आपको नहीं जानता है। कितने ही लोग कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको और फल को ही जानता है। भाट्ट कहते हैं कि कर्त्ता और कर्म की ही प्रतीति होती है, शेष की नहीं। जैमिनीय कहते हैं कि कर्त्ता, कर्म, और क्रिया की ही प्रतीति होती है करण की नहीं? उक्त वादियों के मत, प्रतीति से बाधित हैं, यह दिखलाने के लिए अर्थात् पर व्यवसाय मात्र का खण्डन करने के लिए कहा गया है–

कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ॥९॥

अन्वयार्थ– (कर्मवत्) कर्म के समान **(कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः)** कर्त्ता, करण, क्रिया की प्रतीति होने से प्रमाण/ज्ञान कर्त्ता, कर्म, करण, क्रिया आदि सभी को जानता है।

सूत्रार्थ–कर्म के समान कर्त्ता, करण और क्रिया की भी प्रतीति प्रमाण/ज्ञान से होती है, क्योंकि प्रतीति का होना, अनुभूति का होना ज्ञान का ही कार्य है।

संस्कृतार्थ–प्रमाणेन यथा घटपटादिरूपस्य कर्मणो बोधो जायते तथैव कर्तुः करणस्य क्रियाया वा बोधो जायते। अर्थात् प्रमाणेन यथा अहं घटपटादिकं (कर्म) जाने इति प्रतीतिर्जायते तथा कर्तृकरणक्रियाः प्रत्यपि अहं कर्त्रादिकं जाने इति प्रतीति जायते, नात्र काचिद् बाधा, अनुभवसिद्धं विद्यते।

टीकार्थ–प्रमाण के द्वारा जैसे घट-पट आदि रूप कर्म का बोध होता है उस प्रकार ही कर्त्ता (मैं), करण (अपने द्वारा) और क्रिया (जानता हूँ) का भी बोध होता है, अर्थात् प्रमाण के द्वारा जैसे–मैं घड़े-कपड़े आदि को जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है। उसी प्रकार कर्त्ता, करण और क्रिया के प्रति भी इन कर्त्तादिक को भी जानता हूँ ऐसी प्रतीति होती है, इसमें कोई बाधा नहीं है, अनुभव सिद्ध है। इसलिए प्रमाण को केवल परव्यवसायक मानना ठीक नहीं है।

विशेषार्थ—एक ही ज्ञान में कर्त्ता आदि अनेक कारकों की व्यवस्था भेद विवक्षा से घट जाती है। क्योंकि जैन सिद्धान्त अनेकान्त व स्याद्वादमय है। विभिन्न अपेक्षा कृत वर्णन से विरोध नहीं आता, सर्वथा एकान्तवाद में ही विरोध संभव होता है। इस विवेचन से प्रमाण के विषय में नैयायिक और मीमांसक की मान्यताओं का खण्डन किया गया है, जो प्रमेयरत्नमाला से विशेषरूप से जान लेना चाहिए। **कर्त्ता, कर्म, करण, ज्ञप्ति तथा प्रमिति किन्हें कहते हैं** ? किसी भी वस्तु को जानने वाली आत्मा कर्त्ता कहलाती है। ज्ञान की विषयभूत वस्तु कर्म कहलाती है अथवा ज्ञप्तिरूप क्रिया के द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसा प्रमाण रूप ज्ञान करण कहलाता है। जानने रूप क्रिया को ज्ञप्ति कहते हैं। प्रमाण के फल को प्रमिति कहते हैं।

सरल व्याख्या—प्रमाण के द्वारा जैसे घट-पट आदि रूप कर्म का बोध होता है उसी प्रकार ही कर्त्ता (मैं), करण का (अपने द्वारा) और क्रिया (जानता हूँ) का भी बोध होता है।

कर्त्ता [Subject] कर्म [object.] करण [Instrumental cause] क्रिया [verb]

आत्मा जानने वाला है इसलिए ज्ञायक है [knower] ज्ञान का विषय [knowable] ज्ञेय कहलाता है, यही object है। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है इसलिए ज्ञान [knowledge] करण [Instrumental cause] है। जानना मात्र क्रिया [verb] है।

इसी को प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति इन शब्दों से भी जाना जाता है।

प्रमाता=आत्मा, प्रमाण=ज्ञान, प्रमेय=जानने योग्य, प्रमिति=क्रिया या ज्ञान का फल।

किसी शंकाकार का कहना है कि यह कर्त्ता, कर्मादि की प्रतीति तो शब्द का उच्चारण मात्र ही है, वस्तु के स्वरूप बल से उत्पन्न नहीं हुई है अर्थात् वह प्रतीति वास्तविक नहीं है उसका उत्तर इस दसवें सूत्र में कहते हैं—

शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(अर्थवत्) पदार्थ के समान **(शब्दानुच्चारणे)** शब्द का उच्चारण नहीं करने पर **(अपि)** भी **(स्वस्य)** अपने आपका **(अनुभवनम्)** अनुभवन अर्थात् प्रतीति होती है।

सूत्रार्थ—पदार्थ के समान शब्द का उच्चारण नहीं करने पर भी अपने आपका अनुभव होता है।

संस्कृतार्थ— यथा प्रत्यक्षाणां घटपटादीनां वस्तूनां, परोक्षाणां मोदकादीनाम्वा तद्वाचकशब्दानुच्चारणेऽपि विचारमात्रेणैवालोकनमात्रेणैव वा ज्ञाने तदाकार अनुभवो जायते, यदिदममुकवस्तुं विद्यते इदं चामुकवस्तु। तथा अहमिदं करिष्ये, इदं मया जातम् इत्यादि विचारे (ज्ञाने) 'अहं मया' इत्यादि रूपेण यः स्वबोधः जायते, सः शब्दोच्चारणं विनैव जायते।

टीकार्थ—जैसे प्रत्यक्ष घड़ा कपड़ा आदि वस्तुओं का और परोक्ष लड्डू आदि वस्तुओं का तद्वाचक शब्द के उच्चारण बिना भी विचार मात्र से ही या देखने मात्र से ही ज्ञान में तदाकार अनुभव हो जाता है कि यह अमुक वस्तु है और यह अमुक वस्तु है उसी प्रकार ''मैं यह करूँगा'' यह ''मेरे द्वारा हुआ'' इत्यादि ज्ञान में, 'मैं' और 'मेरे' द्वारा इत्यादि रूप से जो आत्मा का बोध होता है वह शब्दोच्चारण बिना भी होता है। अतः कर्त्ता, कर्म आदि की प्रतीति केवल शाब्दिक नहीं किन्तु वास्तविक है।

विशेषार्थ—इस विवेचन से 'कर्त्ता आदि का ज्ञान शब्दोच्चारण से ही होता है' इस प्रकार मानने वालों की मान्यता का खण्डन किया गया है। यदि वे वाक्योच्चारण पक्ष में ऐसा मानते तो सत्य हो सकता था, परन्तु उनका ज्ञान को शब्दोच्चारणजन्य एकान्तरूप से कहना ठीक नहीं है। **शब्द किसे कहते हैं** ? जो अर्थ को कहता है, प्रतीति कराता है, जिसके द्वारा कहा जाता है अथवा कहना मात्र शब्द हैं।

सरल व्याख्या—यदि कोई यह समझे कि पूर्व सूत्रों में कहे हुए कर्त्ता, कर्म, करण आदि से ही वस्तु स्वरूप जाना जाता है तो यह वस्तु का स्वरूप शब्द मात्र ही हुआ वास्तविक नहीं हुआ इस जिज्ञासा का निराकरण

करने के लिए यह सूत्र आया है।

जब कोई व्यक्ति घट-पट आदि किसी बाह्य पदार्थ को देखता है तो जरूरी नहीं कि वह बोले कि मैं घट को देख रहा हूँ, मैं पट को देख रहा हूँ और वह बिना बोले ही घट-पट आदि को जान लेता है उसी तरह मैं स्वयं को जानता हूँ, या मैं जानता हूँ, इस प्रकार शब्द उच्चारण के बिना भी स्वयं का अनुभव करता है। इसलिए कहा गया है कि शब्द उच्चारण के बिना भी कर्त्ता, कर्म आदि की प्रतीति होती है। यह प्रतीति केवल शब्दों से कहने मात्र की नहीं अपितु वास्तविक है।

जब न्यायाचार्य विद्वान् पंडित दरबारीलाल कोठिया समाधि के लिए अंतिम समय में आचार्यश्री जी के पास नेमावर आये तब आचार्यश्री ने उन्हें यह सूत्र सुनाया, इस सूत्र को सुनकर वह हँस पड़े और कहने लगे-''हाँ महाराज स्वयं का अनुभव शब्द के बिना भी होता है।'' तब आचार्य महाराज ने कहा पंडितजी अब यह समय शब्द के बिना स्वयं के अनुभव करने का है। इस तरह यह सूत्र अध्यात्म से जोड़ने वाला है।

शब्दोच्चारण बिना भी स्वप्रतीति की पुष्टि-

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥११॥

अन्वयार्थ-(कः वा) कौन ऐसा लौकिक या परीक्षक है जो **(तत्प्रति-भासिनम् अर्थम्)** उस ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थ को **(अध्यक्षम्)** प्रत्यक्ष **(इच्छत्)** मानता हुआ **(तदेव)** उस ज्ञान को ही **(तथा)** उस तरह प्रत्यक्ष **(न)** न **(इच्छेत्)** स्वीकार करे।

सूत्रार्थ-कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थ को प्रत्यक्ष मानता हुआ भी स्वयं ज्ञान को ही प्रत्यक्ष न माने, अपितु मानेगा ही। यहाँ पर विषयी ज्ञान के प्रत्यक्षपने रूप धर्म का विषयभूतपदार्थ में उपचार करके उक्त प्रकार का निर्देश किया है। अन्यथा अप्रमाणिकपने का प्रसंग आयेगा।

संस्कृतार्थ-यदा ज्ञानं परपदार्थं प्रत्यक्षं करोति तदा स्वस्य प्रत्यक्षमपि

तस्यावश्यं स्यात्। यदि च स्वं न जानीयात्तर्हि परपदार्थान् ज्ञातुमपि न शक्नुयात्। यथा घटादयः स्वं न जानन्त्यतः परमपि न जानन्ति। इति स्थितौ को लौकिकः परीक्षको वा जनो विद्यते यो ज्ञानप्रतिभासिनमर्थं प्रत्यक्षं स्वीकुर्वन् स्वयं ज्ञानं प्रत्यक्षं नो स्वीकुर्यात् ?।

टीकार्थ—जब ज्ञान दूसरे का प्रत्यक्ष करता है तब उसके स्वयं का भी प्रत्यक्ष होता। यदि वह अपने को नहीं जानता होता तो दूसरे पदार्थों को जानने के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता। जैसे–घट (घड़ा) आदि अपने आपको नहीं जानते इसलिए दूसरों को भी नहीं जानते। ऐसी स्थिति होने पर कौन लौकिक या परीक्षक पुरुष है जो ज्ञान से प्रतिभाषित हुए पदार्थ को तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय माने परन्तु स्वयं ज्ञान को प्रत्यक्ष न माने अर्थात् सभी मानेंगे।

विशेषार्थ—मुख्य वस्तु के अभाव में प्रयोजन और निमित्त के होने पर उपचार की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत में प्रत्यक्षपना तो ज्ञान का मुख्य धर्म है, पदार्थ का नहीं। किन्तु पदार्थ ज्ञान का विषय है, अतः उसमें व्यवहार के प्रयोजन से प्रत्यक्षपने का उपचार किया गया है। यहाँ निमित्त पदार्थ और ज्ञान में विषय–विषयीभावरूप सम्बन्ध का है। यदि ऐसा न माना जाये तो लोक का व्यवहार अप्रमाणीक हो जायेगा।

सरल व्याख्या—सभी मानेंगे कि वह ज्ञान जब दूसरों को प्रत्यक्ष करता है तो अपना भी करता होगा, यदि अपने को न जानता होता, तो दूसरे पदार्थों को भी न जान सकता, जैसे घट आदि स्वयं को नहीं जानते इसलिए वे दूसरों को भी नहीं जानते हैं।

ऐसे ही जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थों को जान रहे हैं, उस ज्ञान के स्पष्ट भान को कोई मना करे तो, यह बात कैसे ठीक बने ?

एक बाबूजी थे, वे अपने घर में सारी चीजें व्यवस्थित ढंग से रख रहे थे। घड़ी की जगह लिखा दिया घड़ी, कमीज की जगह कमीज, कोट की जगह कोट लिख दिया, छाता की जगह छाता लिख दिया। जिस बिस्तर पर लेटे उस पर 'मैं' लिख दिया कि यहाँ पर मैं पड़ा हूँ, सो गए, जब आँखें

खुलीं तो झट सारी चीजों पर निगाह डाली। वह देखने लगा कि हमारी सारी चीजें जैसी की तैसी रखी हैं या नहीं। देखा तो सभी चीजें ज्यों की त्यों रखी थी। पर पलंग पर देखा तो वहाँ लिखा था 'मैं'। पलंग से बाहर खड़ा हुआ देख रहा है। इस पलंग पर 'मैं' न दिखा तो पलंग को झटक कर निवाड़ को इधर-उधर खिसकाकर देखा पर उसका 'मैं' न टपका। सोचा -आह! मेरा तो 'मैं' गुम गया, परेशान होकर अपने मित्र को पुकारने लगे। अरे मित्र! मेरा 'मैं' गुम गया, अरे मित्र! मेरा 'मैं' गुम गया। मित्र सोचता है कि आज बाबूजी यह क्या बक रहे हैं? यह तो कहते हैं कि 'मैं' गुम गया। सो मित्र ने कहा-अच्छा बाबूजी आप थके हुए हैं, सो जाओ, आपका 'मैं' आपको अभी मिल जायेगा। बाबूजी को विश्वास हो गया, पलंग पर लेटकर सो गये। कुछ देर बाद मित्र ने जगाया और कहा देखो बाबूजी आपका 'मैं' मिला कि नहीं। जब बाबूजी जगे तो अपने आप पर हाथ फेरने लगे और कहने लगे-ओह! मिल गया मेरा 'मैं'।

तो जैसे 'मैं' गुम गया, 'मैं' गुम गया, ऐसा कोई बके तो पागलपन जैसी बात है इसी तरह कोई अपने ज्ञान स्वरूप को मना करे, मेरा ज्ञान ही नहीं है, मैं ज्ञान को जानता ही नहीं, ऐसा जो बकता है, वह पागल की बात है।

स्व की प्रतीति की पुष्टि का उदाहरण-

प्रदीपवत् ॥१२॥

अन्वयार्थ-(प्रदीपवत्) दीपक के समान।

सूत्रार्थ-दीपक के समान।

संस्कृतार्थ-यथा दीपको घटपटादिकं परपदार्थं प्रकाशयन् स्वम् (दीपकम्) अपि प्रकाशयति तथैव ज्ञानमपि घटपटादिपरपदार्थान् जानत्सत् स्वमपि जानाति।

टीकार्थ-जैसे दीपक घट-पट आदि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं अपने आपको भी प्रकाशित करता है। उसी तरह ही ज्ञान भी घट-पटादि परपदार्थों को जानता हुआ स्वयं को भी जानता है।

विशेषार्थ–जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाये, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिए। यहाँ यह तात्पर्य है–ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करण वाला है, जैसे कि दीपक का भासुराकार।

ज्ञान अपने आपके जानने में अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु स्वयं ही अपने आपको जानता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का ही गुण है। जब वह जानने की शक्तिरूप अदृष्ट के बिना व्यक्ति/प्रकटरूप अनुयायीकरणपने की अवस्था को प्राप्त होता है तब वह किसी अन्य की अपेक्षा के बिना ही अपने विषयभूत पदार्थ को जानता है जैसे–दीपक की प्रकाशरूप लौ अपने आपको प्रकाश करने में किसी दूसरी प्रकाशमान वस्तु की अपेक्षा नहीं करती, स्वयं ही अपने आप को प्रकाशित करती है।

यहाँ जानने योग्य विशेष बात यह है कि जब ज्ञान करणकारकपने की अवस्था को प्राप्त होता है अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि "मैने अपने **ज्ञान के द्वारा** पदार्थ को जाना" तब वह ज्ञान करणकारकपने की अवस्था को प्राप्त होता हुआ दो तरह से कार्य करता है–१. अदृष्ट-अनुयायीकरणरूप से २. दृष्ट-अनुयायीकरणरूप से। ज्ञान जब अपने स्वयं को जानने के अभिमुख होता है अर्थात् ज्ञान, ज्ञान को ही विषय करता है, तब वह ज्ञान अपने जानने रूप शक्ति अदृष्ट-अनुयायीकरणपने का प्रयोग करता हुआ अपने स्वयं को जानता है और वही ज्ञान जब अपने से पृथक् पर-पदार्थों को जानने के अभिमुख होता है अर्थात् बहिरंग पर-पदार्थों को विषय करता है, तब वह अपनी जानने रूप शक्ति दृष्ट-अनुयायीकरणपने की अवस्था को प्राप्त होता हुआ पर-पदार्थों को जानता है।

सरल व्याख्या—जैसे दीपक घट-पट आदि दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता हुआ, अपने आपको भी प्रकाशित करता है। वैसे ही ज्ञान, घट-पट आदि को जानता हुआ अपने आपको भी जानता है।

ज्ञान स्वयं को जब जानता है तो वह स्वयं को कर्म बना लेता है और जब दूसरे को जानता है तब कर्त्ता बन जाता है, इस प्रकार ज्ञान स्वयं कर्त्ता भी है और कर्म भी है।

यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि प्रमाण का जो लक्षण ''स्वापूर्वार्थ-व्यवसायात्मकं प्रमाणं'' आपने कहा वह ठीक है तथापि प्रमाण की प्रमाणता/सत्यता स्वतः—अपने आप होती है अथवा परतः—अन्य से होती है। स्वतः तो मानी नहीं जा सकती क्योंकि प्रमाण की प्रमाणता स्वतः हो तो फिर उसके विषय में किसी को विवाद नहीं होना चाहिए। प्रमाण की प्रमाणता परतः भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि पर से प्रमाणता मानने पर उसकी भी प्रमाणता पर से माननी पड़ेगी इस प्रकार अनवस्थादोष का प्रसंग आता है इन दो मतों की आशंका करके उसके निराकरणपूर्वक अपने मत की स्थापना करते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि मीमांसक तो प्रमाण की प्रमाणता स्वतः और अप्रमाणता परतः मानते हैं। सांख्य प्रमाण की प्रमाणता परतः और अप्रमाणता स्वतः मानते हैं। नैयायिक प्रमाण की प्रमाणता और अप्रमाणता दोनों परतः मानते हैं। आचार्य इस विषय में अपना निर्णय देते हैं—

प्रमाण की प्रमाणता का निर्णय—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥

अन्वयार्थ— (तत्प्रामाण्यं) उस प्रमाण की प्रमाणता—सच्चाई, वास्तविकता **(स्वतः)** अपने आप से **(च)** और **(परतः)** पर से होती है।

सूत्रार्थ—प्रमाण की वह प्रमाणता अभ्यासदशा में अपने आप से और अनभ्यासदशा में पर से होती है।

संस्कृतार्थ—तस्य प्रमाणस्य प्रामाण्यस्य (सत्यतायाः वास्तविकतायाः यथावद्विज्ञताया वा) निर्णयः प्रकारद्वयेन जायते। अभ्यासदशायामन्यपदार्थ-सहायतां विना स्वतः अनभ्यासदशायाञ्चान्यकारणानां सहायतायाः।

टीकार्थ—उस प्रमाण की प्रमाणता—सच्चाई, वास्तविकता या पदार्थ

का यथावत् जानने का निर्णय दो प्रकार से होता है। अभ्यासदशा में अन्य पदार्थ की सहायता बिना अपने आप और अनभ्यासदशा में अन्य कारणों की सहायता से।

विशेषार्थ—यहाँ सूत्र वाक्य में नहीं कहे गये किन्तु सूत्र से सम्बन्धित अर्थ और सूत्र से सूचित अर्थ का परिज्ञान करने के लिए अर्थात् सूत्र में उपस्कार के लिए 'अभ्यासदशा' और 'अनभ्यासदशा' इन दो शब्दों का ऊपर से अध्याहार/संयोजना की गई है। इसलिए यहाँ पर सूत्र का अर्थ यह जानना चाहिए कि प्रमाण की प्रमाणता अभ्यासदशा में स्वतः और अनभ्यासदशा में परतः होती है। **उपस्कार किसे कहते हैं** ? सूत्र वाक्य उपस्कार सहित होते हैं। अर्थात् सूत्र का ठीक अर्थ जानने के लिए तत्संबद्ध—सूत्र से सम्बन्धित अर्थ और तत्सूचित—सूत्र के द्वारा सूचित अर्थ का परिज्ञान करने के लिए ऊपर से कुछ शब्दों का अध्याहार/संयोजना करनी पड़ती है वह अध्याहार/संयोजना ही उपस्कार कहलाती है।

जहाँ निरन्तर जाया आया करते हैं वहाँ के नदी और तालाब आदि स्थानों के परिचय को अर्थात् परिचित अवस्था को अभ्यासदशा कहते हैं। इस स्थान में प्रामाण्य का निर्णय स्वतः हो जाता है और जहाँ कभी गये आये नहीं वहाँ के नदी और तालाब आदि स्थानों के अपरिचय को अर्थात् अपरिचित अवस्था को अनभ्यासदशा कहते हैं। ऐसे स्थानों में दूसरे कारणों से ही प्रामाण्य का निर्णय होता है। जैसे कोई व्यक्ति सदा द्रौणगिरि जाया करता है और वहाँ के रास्ते में जितने कूप तथा तालाब वगैरह आते हैं सबको भलीभाँति जानता है, वह जब-जब वहाँ जाता है तब-तब पूर्व के परिचित चिह्नों के देखते ही जान लेता है कि यहाँ जल है और उन्हीं चिह्नों से यह भी जान लेता है कि मुझे जो ज्ञान हुआ है वह बिल्कुल ठीक है। इसमें यही प्रमाण है कि वह व्यक्ति ज्ञान होने के बाद भी शीघ्रता से कुआँ या तालाब में लोटा डुबोने लग जाता है। अगर उसे अपने ज्ञान की सचाई नहीं होती तो कभी ऐसा नहीं कर सकता था। इससे निश्चय होता है कि अभ्यासदशा में स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय होता है।

एक दूसरा व्यक्ति पहली ही बार द्रौणगिरि गया और रास्ते में जैसे अन्य जलाशयों पर चिह्न होते हैं, वैसे चिह्न देखे तब उसे ज्ञात हुआ कि यहाँ जल है। परन्तु यह निर्णय नहीं कर सका कि किस खास स्थान पर जल है अर्थात् पचास गज इस तरफ है या उस तरफ। इसके बाद जब वह देखता है कि अमुक ओर से स्त्रियाँ पानी लिए आ रहीं हैं अथवा शीतल व सुगन्धित वायु आ रही है, तब वह जान लेता है कि यह मेरा जल का ज्ञान सच्चा है। यदि सच्चा नहीं होता तो ये स्त्रियाँ जल लेने को नहीं आतीं। फिर वह पचास गज आगे जाकर कुँआ में लोटा डुबा कर पानी भर लेता। उसका पहला ज्ञान यद्यपि सत्य था परन्तु उस सत्यता का निर्णय दूसरे ही कारणों से हुआ। इससे मालूम होता है कि अनभ्यासदशा में प्रामाण्य का निर्णय परतः होता है। उत्पत्ति में परतः प्रमाणता कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तरंग कारण ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी बाह्यकारण इन्द्रियादिक के निर्दोष होने पर ही नवीन प्रमाणतारूप कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। अतः उत्पत्ति में परतः प्रमाणता स्वीकार की गई है। तथा विषय के जानने रूप और प्रवृत्तिरूप प्रमाण के कार्य में अभ्यासदशा की अपेक्षा तो प्रमाण की प्रमाणता स्वतः अर्थात् बाह्यकारण के बिना अपने आप ही होती है और अनभ्यासदशा में परतः अर्थात् बाह्यकारणों के मिलने पर ही होती है।

सरल व्याख्या—इस सूत्र में अभ्यास दशा से और अनभ्यास दशा से इस पद को जोड़कर सूत्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

जिन वाक्यों को जोड़कर सूत्र का पूरा अर्थ निकाला जाता है वह वाक्य उपस्कार कहलाता है। चूँकि यह सूत्र उपस्कार सहित है इसलिए इसे सोपस्कार सूत्र कहते हैं।

उदाहरण—जब भगवान् आदिनाथ मुनि दीक्षा के बाद आहार करने निकले तो उन्होंने अपने आप से [स्वतः प्रमाण से] आहार की विधि किसी श्रावक को नहीं बतायी। वे चाहते थे कि स्वतः प्रमाणता अर्थात् स्वतः उत्पन्न हुए ज्ञान से श्रावक आहारदान दे। राजा श्रेयांस को बहुत दिनों के बाद वह विधि स्वतः प्रमाण से ज्ञात हुई क्योंकि उन्होंने कुछ जन्म पूर्व

मुनिराज के लिए दान दिया था। यही अभ्यासदशा इस भव में स्वतः प्रमाण बन गयी। अन्य लोगों को राजा श्रेयांस को दान देते देखकर दान-विधि का ज्ञान हुआ इसलिए अन्य लोगों के लिए परतः प्रामाण्य कहलाया क्योंकि वह ज्ञान अनभ्यासदशा के कारण हुआ।

परिचित दशा को अभ्यास दशा कहते हैं और अपरिचित को अनाभ्यास दशा। परिचित दशा में प्रमाण स्वयं हो जाता है, उसे किसी अनुमान या बाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे-हम अपने हाथ की हथेली देख रहे हैं। यह बात स्वतः स्वयं प्रमाणित है, उसी प्रकार से जब हम अपने गाँव में बहुत बार देखे हुए किसी तालाब को कभी देखते हैं तो वह भी स्वतः प्रमाणित है, लेकिन जब हम किसी अपरिचित स्थान पर हों और प्यासे हों, उस समय पर हमें ज्ञान बाहरी कारणों से होता है। जैसे ठंडी हवा के आने से, पानी भरकर आते हुए व्यक्ति को देखने से, जो हम निकट में पानी है, इस बात का अनुमान लगाते हैं तो यह अनुमान ज्ञान भी प्रामाणिक है क्योंकि इससे पानी का निर्णय हो रहा है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति मृग मरीचिका [मरुस्थल] में सूर्य की किरणों को पड़ता हुआ देखकर पानी का निर्णय करता है तो उसका वह ज्ञान प्रामाणिक नहीं हैं क्योंकि वहाँ वस्तुतः पानी का अभाव है। इस तरह वस्तु के निश्चय और अनिश्चय से ही प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का ज्ञान होता है।

सूत्र में आये 'परतः' शब्द से दो अर्थ निकलते हैं-

१. बाह्य कारणों के मिलने से।

२. अनुमान प्रमाण से। अर्थात् अनभ्यास दशा में बाह्य कारणों के मिलने पर भी ज्ञान में प्रामाणिकता आती है और अनुमान ज्ञान से भी।

प्रथम परिच्छेद का सारांश

इस प्रथम परिच्छेद में प्रमाण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। प्रथम सूत्र-''स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'' इस सूत्र में स्व, अपूर्वार्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान और प्रमाण ये ५ पद हैं, इन्हीं पाँच पदों का

खुलासा आगे के सूत्रों में किया गया है।

प्रमाण के निकट में पहले 'ज्ञान' पद आया है। अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है यह दूसरे सूत्र में दर्शाया है। उसके बाद 'पश्चातानुपूर्वी' से देखने पर 'व्यवसायात्मकम्' पद रखा है। इसको परिभाषित करते हुऐ तीसरा सूत्र लिखा गया है। उसके बाद अपूर्वार्थ शब्द आया है। इसको परिभाषित करते हुए चौथा एवं पाँचवा सूत्र आया है इसके बाद 'स्व' शब्द आया इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए छटवें से लेकर बारहवें तक सूत्र हैं। तत्पश्चात् तेरहवें सूत्र में प्रमाण शब्द की सार्थकता एवं प्रामाणिकता को दर्शाया है।

परीक्षामुख सूत्र ग्रंथ का इस प्रथम अध्याय का पहला सूत्र बहुत अर्थ को अपने में समाहित किए हुए है। इस प्रथम पद को कई तरीके से संधि विच्छेद करके समझाया जा सकता है।

अपूर्व शब्द को मध्य दीपक मानते हुए इसे 'स्व' के साथ भी जोड़ा जा सकता है क्योंकि स्व (आत्मा) भी एक अपूर्व पदार्थ है, जिसका निश्चय भी इसी प्रमाण ज्ञान से होता है।

'अर्थ' शब्द को भी स्व के साथ जोड़कर व्याख्यायित किया जा सकता है। अर्थ यानि पदार्थ। इसलिए स्वार्थ यानि आत्म पदार्थ को निश्चित करने वाला ज्ञान।

सूत्र में सर्वप्रथम 'स्व' विशेषण दिया है जो यह इंगित करता है कि अपना, अपने आत्मतत्त्व का निश्चय होने पर ही पर पदार्थ का निश्चय होता है इससे स्पष्ट होता है कि स्व व्यवसाय अर्थात् अपनी आत्मा का निश्चय करना ही मुख्य तथ्य है।

जैन आचार्यों ने ज्ञान को स्वपर प्रकाशी माना है मगर देखा जाये तो इसी सिद्धान्त को इस प्रथम अध्याय में अन्य मतों का खंडन करते हुए प्रस्तुत किया गया है।

इन सभी सूत्रों में स्व और पर पदार्थों को जानने वाला ज्ञान है और वही प्रमाण है, मात्र इसी बात पर ग्रंथकार ने जोर दिया है।

जो लोग ज्ञान को 'स्व' प्रकाशी नहीं मानते, वे आत्मज्ञ [आत्मा को जानने वाले] कैसे हो सकते हैं ? और जो एकांतरूप से ज्ञान को 'पर' प्रकाशी ही मानते हैं वे 'सर्वज्ञ' कैसे हो सकते हैं ? जैनदर्शन में आत्मा आत्मज्ञ भी है और सर्वज्ञ भी है। केवलज्ञानी अपने ज्ञान से 'स्व और पर' पदार्थों को एक साथ जानते एवं देखते रहते हैं। स्व को जानने की अपेक्षा से वे आत्मज्ञ हैं और पर पदार्थों को जानने की अपेक्षा से वे सर्वज्ञ हैं। ज्ञान की यह 'स्वपर प्रकाशता' किसी भी अन्य दर्शन में नहीं पायी जाती। इसी से स्पष्ट होता है कि सर्वज्ञ के द्वारा ही यह स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान होता है।

इति प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः

(इस प्रकार प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ)

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

अब आचार्य भगवन् प्रमाण की स्वरूपविप्रतिपत्ति का निराकरण करके संख्याविप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए प्रमाण के समस्त भेदों के संदर्भ का संग्रह करने वाले और प्रमाण की संख्या का प्रतिपादन करने वाले सूत्र को कहते हैं–

तद्द्वेधा ॥१॥

अन्वयार्थ–(तत्) वह प्रमाण **(द्वेधा)** दो प्रकार का है।

सूत्रार्थ–वह प्रमाण दो प्रकार का है।

संस्कृतार्थ–प्रमाणस्य द्वावेव भेदौ विद्येते। अन्येषाम्प्रभेदानामनयो-र्द्वयोरेवान्तर्भावात्।

टीकार्थ–प्रमाण के दो ही भेद हैं। अन्य प्रभेदों का इन दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रमाण के दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान इस प्रकार से भी संभव हैं, इस प्रकार बौद्धों की आशंका का निराकरण करने के लिए प्रमाण के समस्त भेदों का संग्रह करने वाली संख्या को आचार्य सूत्र में कहते हैं। प्रमाण के दो भेदों का स्पष्टीकरण–

प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

अन्वयार्थ–(प्रत्यक्षेतरभेदात्) प्रत्यक्ष और इतर–परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है।

सूत्रार्थ–प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है।

संस्कृतार्थ–प्रत्यक्षं परोक्षं चेति प्रमाणस्य दौ भेदौ स्तः। प्रमाणस्यान्य-मतावलम्बिपरिकल्पितानामेकद्वित्रिचतु:प्रभृतिभेदानां निराकरणार्थमिदं सूत्रविहितम्।

टीकार्थ–प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार प्रमाण के दो भेद हैं, अन्य मतावलम्बियों द्वारा कल्पित एक, दो, तीन और चार आदि प्रमाण की संख्या के निराकरण के लिए इस सूत्र को कहा गया है।

विशेषार्थ–प्रमाण की संख्या के विषय में भी विवाद है–चार्वाक

एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो को प्रमाण मानते हैं। सांख्य तीन प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। नैयायिक उक्त तीन के साथ उपमान को मिलाकर चार प्रमाण मानते हैं। प्राभाकर उक्त चार के साथ अर्थापत्ति को मिलाकर पाँच प्रमाण मानते हैं। भाट्ट लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं। पौराणिक लोग इनके अतिरिक्त सम्भव ऐतिह्य आदि को प्रमाण मानते हैं। जैन लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण के भेद मानते हैं। इस प्रकार से प्रमाण की संख्या के विषय में सभी का विवाद है, इसी का नाम संख्याविप्रतिपत्ति है।

अब आचार्य प्रमाण का प्रथम भेद जो प्रत्यक्ष उसका स्वरूप निरूपण के लिए सूत्र कहते हैं–

विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥

अन्वयार्थ–(विशदं) निर्मल/स्पष्ट ज्ञान को **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

सूत्रार्थ–विशद अर्थात् निर्मल और स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

संस्कृतार्थ–यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो निर्मलो विद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रोच्यते। तथा चोक्तं श्रीविद्यानन्दिस्वामिना–निर्मलप्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वमिति। प्रतिपादितं च श्रीभट्टाकलङ्कदेवैः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा इति। तथा चानुमानं–प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकमेव, प्रत्यक्षत्वात्, परोक्षवत्। प्रत्यक्षमिति धर्मिनिर्देशः विशदज्ञानात्मकं साध्यं, प्रत्यक्षत्वादिति हेतुः परोक्षवदिति दृष्टान्तः। तथाहि–यन्न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं यथा परोक्षं, प्रत्यक्षं च विवादापन्नं, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति।

टीकार्थ–जिस ज्ञान का प्रतिभास निर्मल होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं और उसी प्रकार श्री विद्यानन्दि स्वामी के द्वारा कहा गया है–निर्मल प्रतिभासपना ही स्पष्टपना है और श्री भट्टाकलंकदेव के द्वारा प्रत्यक्ष के लक्षण को कहा गया है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण स्पष्ट, साकार और यथावत् रूप है और अनुमान

प्रयोग इस प्रकार है–प्रत्यक्ष विशदज्ञान स्वरूप ही है, प्रत्यक्ष होने से, परोक्ष के समान। इस प्रकार 'प्रत्यक्ष' धर्मी का निर्देश है, 'विशद-ज्ञानपना' यह साध्य है, 'प्रत्यक्ष होने से' यह हेतु, 'परोक्ष के समान' दृष्टान्त है, 'इसलिए जो विशदज्ञानात्मक नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं है जैसे परोक्ष', उपनय है ''प्रत्यक्ष विवादापन्न है, इसलिए वह विशदज्ञानात्मक है'' यह निगमन है।

विशेषार्थ–प्रत्यक्षप्रमाण की निर्मलता अनुभव से जानी जाती है। वह अनुभव इस प्रकार से होता है। किसी व्यक्ति को किसी ने शब्दों के द्वारा अग्नि का ज्ञान करा दिया तब उस व्यक्ति ने सामान्यरूप से अग्नि को जाना। इसके बाद किसी दूसरे मनुष्य ने उसी व्यक्ति को धूम मात्र दिखाकर अग्नि का ज्ञान कराया तब भी उस व्यक्ति ने जिस जगह धूम था उस जगह धूम से अग्नि का निश्चय किया प्रत्यक्ष नहीं देखी। इसके बाद किसी तीसरे मनुष्य ने अग्नि का जलता हुआ अंगार लाकर उसके सामने रख दिया तब उस पुरुष को बिलकुल निर्मल स्पष्ट ज्ञान हो गया कि अग्नि इस प्रकार है, ऐसे रंग की और गर्म होती है। इस तीसरी बार हुए ज्ञान में पहले दो बार हुए ज्ञानों से विशेषता है उसी को विशदता या निर्मलता कहते हैं। जिस ज्ञान में ऐसी विशदता होती है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। **अनुमान के ५ अवयव कौन-कौन से हैं** ? १. पक्ष, २. हेतु, ३. दृष्टान्त, ४. उपनय, ५. निगमन। **प्रस्तुत सूत्र में पक्ष, साध्य एवं हेतु क्या है** ? यहाँ 'प्रत्यक्ष' यह धर्मी का निर्देश अर्थात् पक्ष है। 'ज्ञान की विशदता' साध्य एवं 'प्रत्यक्षपना' हेतु है।

सरल व्याख्या–जब हम अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष से करते हैं तो वह स्पष्ट ज्ञान है इसलिए वह विशद है और जब हमें कोई विश्वस्त व्यक्ति यह बताये कि ''यहाँ पर अग्नि है'' अथवा जब हम धुँआ देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं तो वह दोनों प्रकार का ज्ञान स्पष्ट न होने से विशद नहीं कहलाता है।

अब आचार्य पूर्व सूत्र में कही गई विशदता का लक्षण कहते हैं–

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

अन्वयार्थ–(प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन) अन्य ज्ञान के व्यवधान/अन्तराल

से रहित **(वा)** और **(विशेषवत्तया)** विशेषपने/विशेषता से **(प्रतिभासनम्)** जानने को **(वैशद्यम्)** विशदता कहते हैं।

सूत्रार्थ—दूसरे ज्ञान की सहायता के बिना होने वाले तथा पदार्थ के आकार और वर्ण आदि की विशेषता से होने वाले प्रतिभास को विशदता/वैशद्य कहते हैं।

संस्कृतार्थ—एकस्याः प्रतीतेरन्या प्रतीतिः प्रतीत्यन्तरं, तेनाव्यवधानं तेन प्रतिभासित्वं वैशद्यं निगद्यते। तथा च ज्ञानान्तरव्यवधानरहितत्वे सति वर्णसंस्थानादिविशेषग्रहणत्वं वैशद्यम्। विशदत्वं, निर्मलत्वं, स्पष्टत्वमिति तु वैशद्यस्यैव नामान्तराणि।

टीकार्थ—एक प्रतीति से भिन्न दूसरी प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं, यहाँ प्रतीति का अर्थ ज्ञान है और अन्य ज्ञान के व्यवधान/अन्तराल से रहित जो निर्मल प्रतिभासपना है, उसे वैशद्य कहते हैं और दूसरे की सहायता के बिना होने पर पदार्थ के आकार और वर्ण आदि की विशेषता से होने वाला प्रतिभास वैशद्य है। परन्तु विशदता, निर्मलता, स्पष्टता, विशदता के ही पर्यायवाची नाम हैं।

विशेषार्थ—जो ज्ञान अपने स्वरूप का लाभ करने में दूसरे ज्ञानों की सहायता चाहता है, वह परोक्ष कहलाता है। जैसे—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम तथा जो ज्ञान दूसरे ज्ञानों की सहायता नहीं चाहते हैं वे प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। उनमें जो खासियत होती है उसी को विशदता, वैशद्य, स्पष्टता या निर्मलता कहते हैं।

सरल व्याख्या—एक प्रतीति से भिन्न दूसरी प्रतीति को प्रतीत्यन्तर कहते हैं। ज्ञान को प्रतीति भी कहते हैं।

यहाँ विशदता के लक्षण में दो शर्तें हैं—

१. दूसरे ज्ञान के व्यवधान से रहित, २. विशेषता के साथ ज्ञान होना।

पहले यह जान लें कि पाँच ज्ञानों में अन्तिम तीन ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही हैं और उन अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान में दोनों शर्तों की पूर्ति हो जाने से वैशद्य का लक्षण घटित हो जाता है।

मात्र न्याय ग्रंथों में ही मतिज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। सिद्धान्त में मति, श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

मतिज्ञान में विशदता का लक्षण घटित हो जाता है क्योंकि मतिज्ञान में किसी अन्य ज्ञान का व्यवधान भी नहीं होता है और वह इन्द्रिय से स्पष्टता के साथ जानता है।

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय आदि भेदों में भी एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का व्यवधान नहीं होता है इसलिए अवग्रह आदि ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

आप सोच सकते हैं कि ईहा ज्ञान से पूर्व अवग्रह ज्ञान का व्यवधान आएगा और अवाय ज्ञान से पहले अवग्रह, ईहा का व्यवधान आएगा फिर इनमें विशदता कैसे हुई तो इसका उत्तर देते हैं कि मात्र ज्ञान का व्यवधान आने से विशदता में कमी नहीं आती किन्तु ज्ञान का विषयभूत पदार्थ बदल जाने से ज्ञान में व्यवधान आता है, जिससे विशदता नहीं रह जाती। जो पदार्थ अवग्रह से जाना है उसी को विशेष रूप से ईहा से जाना तो पदार्थ भिन्न नहीं होने से ज्ञान का व्यवधान नहीं माना जायेगा। इसलिए मतिज्ञान और उसके अवग्रह आदि भेद भी प्रत्यक्ष ज्ञान हैं क्योंकि इनमें विशदता है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है इसलिए मतिज्ञान का व्यवधान होने से श्रुत ज्ञान में विशदता नहीं रहती है इस कारण यह श्रुतज्ञान परोक्ष है। मतिज्ञान के ही अवान्तर भेदों (अवग्रह आदि में) तो विशदता बनी रहती है किन्तु श्रुतज्ञान में नहीं रहती है।

केवल प्रतीत्यंतर के अव्यवधान से होने वाले ज्ञान का नाम ही वैशद्य नहीं है। अपितु वस्तु के वर्ण, गंधादि तथा संस्थान (आकार-प्रकार) आदि विशेषताओं के द्वारा होने वाले विशिष्ट प्रतिभास को वैशद्य कहते हैं। वह प्रत्यक्ष मुख्य और संव्यवहार के भेद से दो प्रकार का है, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्य भगवन् पहले सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति का कारण और लक्षण कहते हैं।
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का कारण और लक्षण–

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

अन्वयार्थ–(इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं) इन्द्रिय और अनिन्द्रिय–मन के

निमित्त से होने वाला **(देशतः)** एक देश विशद ज्ञान **(सांव्यवहारिकम्)** सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।

सूत्रार्थ—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एक देश विशद ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

संस्कृतार्थ—यज्ज्ञानं देशतो विशदम् (ईषन्निर्मलम्) भवति, तथेन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येन समुत्पद्यते तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षं प्रोच्यते। तद्यथा—समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारः तत्र भवं प्रत्यक्षं सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिति व्युत्पत्त्यर्थः।

टीकार्थ—जो ज्ञान एक देश निर्मल (थोड़ा निर्मल) होता है तथा इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। जैसे—समीचीन प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार संव्यवहार हैं, उसमें होने वाला प्रत्यक्ष सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष है यह व्युत्पत्तिरूप अर्थ है।

विशेषार्थ—यहाँ पर पूर्वसूत्र से विशद और ज्ञान इन दो पदों की अनुवृत्ति होती है। एकदेश से विशद जो ज्ञान है, वह सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष है। 'सम' अर्थात् समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को संव्यवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक कहते हैं। पुनः वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है ? इन्द्रिय और अनिन्द्रिय-निमित्तक है। इन्द्रिय अर्थात् चक्षु-श्रोत्रादिक और अनिन्द्रिय अर्थात् मन, ये दोनों जिसके निमित्त अर्थात् कारण हैं। इन्द्रिय और मन ये समस्त अर्थात् दोनों भी सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष के कारण हैं। और व्यस्त अर्थात् पृथक्-पृथक् भी कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए। इन्द्रियों की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञानावरणकर्म और वीर्यान्तरायकर्म के विशिष्ट क्षयोपशमरूप विशुद्धि की अपेक्षा से सहित केवल मन से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं।

सरल व्याख्या—समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार को सांव्यवहार कहते हैं एवं उसमें होने वाला प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। यह इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक है। सांव्यहारिक प्रत्यक्ष का दूसरा नाम मतिज्ञान

है। इन्द्रियों की प्रधानता और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम रूप विशुद्धि की अपेक्षा से सहित केवल मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

सिद्धान्त सूत्रों के अनुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र में ''आद्ये परोक्षम्'' कहा है किन्तु न्याय ग्रंथों में इस मतिज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। आचार्य अकलंकदेव ने इस मतिज्ञान को ''सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष'' यह संज्ञा दी है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इस लक्षण में 'मतिज्ञान' तो प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में सिद्ध हो जाता है किन्तु कथञ्चित् श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है, स्वार्थ एवं परार्थ। इसमें स्वार्थ श्रुत ज्ञान को ईषत् परोक्ष कहा है। द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है–''यत् पुनरभ्यन्तरे सुखदुःखविकल्परूपोऽहमनन्त-ज्ञानादिरूपोऽहमिति वा तदीषत् परोक्षम्।'' जो अपने भीतर सुख, दुःख के विकल्प रूप है अथवा मैं अनन्तज्ञान आदि रूप हूँ, इस प्रकार का ज्ञान ईषत् (थोड़ा) परोक्ष है। इसी से स्वार्थ श्रुतज्ञान कथंचित् प्रत्यक्ष सिद्ध होता है।

परार्थ श्रुतज्ञान शब्दात्मक होता है वह तो परोक्ष ही होता है।

हाँ! निश्चय भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

मुनिराजों को ध्यान की अवस्था में शुद्धात्मा का संवेदन होता है। उस दशा में उनके इन्द्रिय और मन से उत्पन्न रागादि विकल्पों का अभाव होता है, उसे भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

यह भावश्रुतज्ञान क्षयोपशम ज्ञान होकर भी प्रत्यक्ष है। (देखे द्रव्यसंग्रह की टीका)

नैयायिक लोग प्रत्यक्ष के उत्पादक इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के समान अर्थ/

पदार्थ और आलोक/प्रकाश को ज्ञान उत्पन्न होने का कारण मानते हैं उनकी इस धारणा का निराकरण करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

अन्वयार्थ–(अर्थालोकौ) पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के **(कारणं)** कारण **(न)** नहीं हैं **(परिच्छेद्यत्वात्)** ज्ञान के विषय होने से **(तमोवत्)** अंधकार के समान।

सूत्रार्थ–अर्थ–पदार्थ और आलोक–प्रकाश ये दोनों ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण नहीं हैं क्योंकि ये परिच्छेद्य अर्थात् ज्ञान के विषय हैं–जानने योग्य ज्ञेय हैं। जो ज्ञान का विषय होता है, वह ज्ञान का कारण नहीं होता। जैसे अन्धकार।

संस्कृतार्थ–अर्थश्च आलोकश्चेति अर्थालोकौ पदार्थप्रकाशा-वित्यर्थः। कारणं न ज्ञानजनकौ न स्तः। परिच्छेत्तुं योग्यौ परिच्छेद्यौ तयोर्भावस्तत्त्वं, तस्मात् परिच्छेद्यत्वात् ज्ञेयत्वादित्यर्थः। अर्थालोकाविति धर्मिनिर्देशः। कारणं न भवतीति साध्यम्। परिच्छेद्यत्वादिति हेतुः। तमोवदिति दृष्टान्तः। तथा च व्याप्तिः यच्च परिच्छेद्यं तन्न ज्ञानं प्रतिकारणं, यथान्धकारम्। परिच्छेद्यौ चार्थालोकौ, तस्मात् ज्ञानं प्रति कारणं न भवतः।

टीकार्थ–अर्थश्च आलोकश्च इति अर्थालोकौ–पदार्थ और प्रकाश यहाँ द्वन्द्व समास हैं। पदार्थ और प्रकाश ये अर्थ हैं, कारण नहीं हैं अर्थात् ज्ञान के जनक नहीं हैं। जानने के योग्य वह परिच्छेद्य और उनका भाव परिच्छेद्यत्व (जाननपना) उस कारण से ज्ञान के विषय होने से या ज्ञेय होने से यह अर्थ है। धर्मी-अर्थ और प्रकाश, हेतु-ज्ञान के विषय होने से, साध्य-कारण नहीं होता है, दृष्टान्त-अंधकार के समान, व्याप्ति-जो ज्ञान का विषय होता है, वह ज्ञान का कारण नहीं होता, जैसे अंधकार। अर्थात् पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के विषय होने से ज्ञान के प्रति कारण नहीं होते हैं, निगमन।

विशेषार्थ–अंधकार ज्ञान का विषय तो है क्योंकि यह सभी जानते हैं और कहते भी हैं कि यहाँ अंधकार है। परन्तु वह ज्ञान का कारण नहीं

प्रत्युत ज्ञान का प्रतिबंधक है अर्थात् अंधकार के कारण, सामने रखे हुए भी पदार्थों का ज्ञान नहीं होने पाता। यदि पदार्थों को ज्ञान का कारण माना जाये तो विद्यमान ही पदार्थों का ज्ञान होगा और जो उत्पन्न ही नहीं हुए अथवा नष्ट हो गये हैं, उनका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि जो नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ इस समय विद्यमान ही नहीं हैं, वे जानने में कारण कैसे हो सकते हैं। इसी प्रकार जो आलोक को ज्ञान का कारण मानते हैं उन्हें रात्रि में कुछ भी ज्ञान नहीं होगा, वे यह भी नहीं कह सकेंगे कि यहाँ अन्धकार है।

सरल व्याख्या—जानने योग्य वस्तु को ज्ञेय कहते हैं अर्थात् ज्ञान का विषय कहते हैं। उसी को यहाँ परिच्छेद्य कहा है।

जैसे अंधकार ज्ञान का विषय है, ज्ञान का कारण नहीं उसी प्रकार पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के विषय हैं कारण नहीं।

यदि पदार्थों को ज्ञान का कारण माना जायेगा तो जो पदार्थ हमारे सामने हैं, उसी का हमें ज्ञान होगा और जो पदार्थ अतीत में थे अथवा आगे होंगे, उनका हमें ज्ञान नहीं हो सकेगा।

इसी तरह प्रकाश को भी ज्ञान का कारण मानेंगे तो हमें अंधकार में कुछ भी ज्ञान नहीं होगा।

यहाँ अंधकार है, ऐसा कहना भी अंधकार को जानना है।

अब सूत्रोक्त इसी साध्य को दूसरी युक्तियों से सिद्ध करते हैं—

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च ॥७॥

अन्वयार्थ—(तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्) उन पदार्थ और प्रकाश का ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक के अनुसरण का अभाव होने से **(केशोण्डुकज्ञानवत्)** केशों में मच्छर के ज्ञान के समान **(च)** तथा **(नक्तंचरज्ञानवत्)** रात्रि में चलने वाले उल्लू, चमगादड़ के ज्ञान के समान।

सूत्रार्थ—अर्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान का

अर्थ और प्रकाश के साथ अन्वय और व्यतिरेकरूप सम्बन्ध का अभाव है जैसे केशों में होने वाले मच्छर के ज्ञान के समान तथा उल्लू आदि को रात्रि में होने वाले ज्ञान के समान।

संस्कृतार्थ—१. ज्ञानं अर्थकारणकं न भवति अर्थान्वयव्यतिरेकानु-विधानाभावात्। यद्यस्यान्वय-व्यतिरेकौ नानुविदधाति, न तत् तत्कारणकं, यथा केशोण्डुकज्ञानम्। नानुविदधते च ज्ञानमर्थान्वय-व्यतिरेकौ तस्मादर्थ-कारणकं न भवतीत्यर्थः। **२.** किञ्च ज्ञानं न प्रकाशकारणकं, प्रकाशान्वय-व्यतिरेकानुविधानाभावात्। यद्यस्यान्वयव्यतिरेकौ नानुविदधाति न तत् तत्कारणकं, यथा नक्तञ्चराणां मार्जारादीनां ज्ञानम्। तथा चेदं ज्ञानं, तस्मात्प्रकाशकारणकं न भवतीति भावः।

टीकार्थ—१. ज्ञान पदार्थ कारण वाला नहीं होता अर्थात् पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं है। क्योंकि पदार्थ का ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है इस विषय में व्याप्ति इस प्रकार है—जो जिसके साथ अन्वय-व्यतिरेक को धारण नहीं करता है, वह तत्कारणक नहीं है। जैसे केशों में होने वाला मच्छर (उण्डुक) का ज्ञान अर्थ (यहाँ केश) के साथ अन्वय-व्यतिरेक को धारण नहीं करता। इसलिए पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं होता, यह इसका अर्थ है। **२.** ज्ञान प्रकाशकारण वाला नहीं होता है अर्थात् प्रकाश ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि ज्ञान का प्रकाश के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। जो कारण जिस कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक को धारण नहीं करता वह तत्कारणक (कारण वाला) भी नहीं है जैसे—रात्रि में विचरण करने वाले बिल्ली, उल्लू आदि के ज्ञान उत्पन्न होने में प्रकाश कारण नहीं है। उसी प्रकार यह ज्ञान है इसलिए प्रकाश कारण वाला नहीं होता यह भाव है।

विशेषार्थ—केश के होते हुये केश का ज्ञान होता तो कह सकते थे कि 'अर्थ' ज्ञान का कारण है। परन्तु ऐसा नहीं होकर उल्टा ही होता है, कि जो पदार्थ (मच्छर) है नहीं, उसका तो ज्ञान होता है और जो केश हैं उनका ज्ञान नहीं होता। इसी को अन्वयव्यतिरेक का अभाव कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि अर्थ के साथ ज्ञान के अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही नहीं हैं। इसलिए अर्थ ज्ञान का कारण नहीं है। इसी प्रकार आलोक के होने पर उल्लू को ज्ञान नहीं होता और आलोक के नहीं होने पर रात्रि में ज्ञान होता है। इससे सिद्ध होता है कि आलोक भी ज्ञान का कारण नहीं है। अगर आलोक ज्ञान का कारण होता तो रात्रि में उल्लू को ज्ञान कभी नहीं होता। **अन्वय किसे कहते हैं** ? कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय कहलाता है। **व्यतिरेक किसे कहते हैं** ? कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक कहते हैं।

सरल व्याख्या—कारण के होने पर कार्य का होना अन्वय सम्बन्ध कहलाता है। कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। केश में होने वाले मच्छर के साथ अर्थ का अन्वय एवं व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं पाया जाता। जैसे किसी व्यक्ति के सिर पर मच्छरों का समूह उड़ रहा था, उसे देखकर किसी को यह भ्रम हो गया कि केशों का गुच्छा उड़ रहा है, इस प्रकार के ज्ञान में मच्छरों के रहते हुए भी उसे मच्छरों का ज्ञान नहीं हुआ, किन्तु केशों का ज्ञान हुआ तो इस उदाहरण में कारण के अभाव में भी कार्य हो गया। कारण यानि केशों के गुच्छा का उड़ना जो कि अभावात्मक है, कार्य अर्थात् केशों का ज्ञान। यहाँ कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव हुआ इसलिए व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव है। अथवा किसी के सिर पर केश उड़ रहे थे, उन्हें देखकर किसी को मच्छर का झुण्ड उड़ रहा है, ऐसा भ्रम हो गया तो यहाँ पर कारण होने पर भी कार्य नहीं देखा गया। इस तरह अन्वय-सम्बन्ध घटित नहीं हुआ क्योंकि सिर के केश कारण हैं और उससे होने वाला ज्ञान कार्य है। इस प्रकार पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध घटित नहीं होता इसलिए केशोण्डुक ज्ञान का उदाहरण दिया।

प्रकाश के साथ भी ज्ञान का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं होता इसके लिए लिए रात्रि में चलने वाले नक्तञ्चरवत् यह उदाहरण दिया। दिन का प्रकाश होते हुए भी उल्लू,चमगादड़ आदि को वस्तु का ज्ञान नहीं होता

यह कारण के होने पर भी कार्य का न होना हुआ जिससे अन्वय सम्बन्ध घटित नहीं हुआ। और रात्रि में प्रकाश के अभाव में भी उन उल्लू चमगादड़ आदि को वस्तु का ज्ञान हो जाता है यहाँ पर कारण [प्रकाश] के अभाव में कार्य का सद्भाव देखा जा रहा है इसलिए व्यतिरेक सम्बन्ध का अभाव हुआ।

बौद्धों की मान्यता है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है ज्ञान उसी पदार्थ के आकार का होता है उसी का ग्राहक होता है अर्थात् जानता है। जैन लोग तो ज्ञान की अर्थ से उत्पत्ति मानते नहीं हैं अतः उनके यहाँ ज्ञान और ज्ञेय में ग्राह्य ग्राहकपना कैसे बनेगा ? ऐसी बौद्धों की आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हुए सूत्र कहते हैं–

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

अन्वयार्थ–(अतज्जन्यम्) अर्थ से नहीं उत्पन्न हुआ **(अपि)** भी ज्ञान **(तत्प्रकाशकं)** उस अर्थ का प्रकाशक है **(प्रदीपवत्)** दीपक के समान।

सूत्रार्थ–अर्थ से उत्पन्न न होकर के भी ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है, दीपक के समान।

नोट–अतज्जन्यता उपलक्षण रूप है, अतः उससे अतदाकार का भी ग्रहण करना है।

संस्कृतार्थ–ननु विज्ञानमर्थजन्यं सत् अर्थस्य ग्राहकं भवति तदुत्पत्ति-मन्तरेण विषयं प्रति नियमायोगात्। इति चेन्न–घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपादेः घटादेः प्रकाशकत्ववत् अर्थाजन्यस्यापि ज्ञानस्यार्थप्रकाशकत्वाभ्युपगमात्। एवमेव तदाकारत्वात् तत्प्रकाशकत्वमित्यप्ययुक्तम् अतदाकारस्यापि प्रदीपादेः घटादिप्रकाशकत्वावलोकनात्।

टीकार्थ–बौद्धों का यह मानना है कि ज्ञान पदार्थ से पैदा होता हुआ पदार्थ का ग्राहक होता है अर्थात् उसे जानता है क्योंकि तदुत्पत्ति अर्थात् ज्ञान की पदार्थ से उत्पत्ति के बिना विषय के प्रति कोई नियम नहीं होने के कारण तदुत्पत्ति मानना ठीक है अर्थात् यदि घट-विषयक ज्ञान को घट से उत्पन्न हुआ न माना जाये तो घटज्ञान घट को ही विषय करे और पट को न

करे इसका कोई नियम नहीं ठहरेगा, ऐसा कहते हो तो ठीक नहीं है। घटादि से उत्पन्न नहीं हुए दीपक आदि घटादि के प्रकाशक माने जाते हैं उसी प्रकार पदार्थ से उत्पन्न नहीं होने वाले ज्ञान को भी पदार्थ का प्रकाशक माना जाता है। ठीक इसी प्रकार बौद्धों की यह भी मान्यता है कि ''उस आकार वाला होने से उसका प्रकाशक होता है अर्थात् अर्थ के आकार होता है और उसका प्रकाशक होता है'' इस तरह यह भी कहना अयुक्त है क्योंकि दीपक आदि घट के आकार को नहीं धारण करके भी घट को प्रकाशित करता है ऐसा देखा जाता है।

सरल व्याख्या—इस सूत्र में दो बातों पर विचार किया गया है—

१. ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता।

२. ज्ञान पदार्थ के आकार में परिणमन नहीं करता।

ये दोनों मान्यताएँ बौद्ध की हैं, इसी का समाधान इस सूत्र में किया गया है। जैसे—दीपक न तो पदार्थ को उत्पन्न करता है और न पदार्थ के आकार रूप परिणमन करता है फिर भी वह घट-पट आदि पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह ज्ञान भी पदार्थों को जान लेता है।

बौद्धों की शंका निवारण हेतु यह सूत्र कहा जा रहा है, शंका इस प्रकार है—जब ज्ञान किसी पदार्थ से नहीं उत्पन्न होकर भी पदार्थों को जानता है, तो एक ही ज्ञान सब पदार्थों को क्यों नहीं जान लेता ? इसका निषेधक कौन है ? हम बौद्धों के यहाँ तो ''जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होगा, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानेगा अन्य को नहीं इस नियम से काम चल जाता है''। बौद्धों की ऐसी शंका होने पर आचार्य भगवन् उत्तर देते हुए कहते हैं।

अतज्जन्य और अतदाकार होने पर भी प्रतिनियतार्थ जानने का कारण—

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥९॥

अन्वयार्थ—(हि) जिस कारण से प्रत्यक्षप्रमाण **(स्वावरणक्षयोपशम-लक्षणयोग्यतया)** अपने आवरणकर्म के क्षयोपशमलक्षणरूप योग्यता के द्वारा **(प्रतिनियतमर्थम्)** प्रतिनियत पदार्थों को जानने की **(व्यवस्थापयति)**

व्यवस्था करता है।

सूत्रार्थ—जिस कारण से प्रत्यक्षप्रमाण/ज्ञान अपने आवरणकर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से प्रतिनियत पदार्थों के जानने की व्यवस्था करता है, उसी कारणरूप योग्यता के द्वारा वह पदार्थों से उत्पन्न न होकर तथा पदार्थों के आकाररूप न होकर भी वह प्रतिनियत पदार्थों को जानता है।

संस्कृतार्थ—स्वानि च तानि आवरणानि स्वावरणानि, तेषां क्षयः उदयाभावः, तेषामेव सदवस्थारूपः उपशमः, तावेव लक्षणं यस्याः योग्यतायाः, तया हेतुभूतया प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति (विषयी करोति) प्रत्यक्षमिति शेषः। निष्कर्षश्चायम्–कल्पयित्वापि तदुत्पत्तिं, ताद्रूप्यं, तदध्यवसायं च प्रतिनियतार्थ-व्यवस्थापनार्थं योग्यतावश्यमभ्युपगन्तव्या।

टीकार्थ—अपने ज्ञान के रोकने वाले आवरणों को स्वावरण कहते हैं (उदय प्राप्त) उन आवरण कर्मों के (वर्तमान काल में) उदयाभाव को क्षय कहते हैं और (अनुदय प्राप्त) उन्हीं कर्मों के सत्ता में अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं वे दोनों ही जिसके लक्षण हैं ऐसी योग्यता के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था करता है यहाँ प्रत्यक्ष यह पद शेष है (सूत्र में नहीं कहा गया है, अतः ऊपर से अध्याहार कर लेना) इसका यह निष्कर्ष है कि उक्त प्रकार से तदुत्पत्ति (ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना) ताद्रूप्य (पदार्थ के आकार होना) और तदध्यवसाय (उसी पदार्थ को जानना) यद्यपि प्रतिनियत अर्थ के जानने में कारण रूप से नियामक नहीं है, तथापि दुराग्रह वश कल्पना करके भी अर्थात् उन तीनों को मान करके भी आप लोगों को योग्यता अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए।

विशेषार्थ—स्वावरण–अपने ज्ञान के रोकने वाले आवरणों को स्वावरण कहते हैं। ज्ञान को रोकने वाले आवरणकर्म बहुत और जुदे-जुदे हैं जिस वस्तु-विषयक ज्ञान को रोकने वाले आवरणकर्म का क्षयोपशम हो जाता है वह वस्तु/पदार्थ ज्ञान का विषय होने लगता है अर्थात् जिस वस्तु विषयक ज्ञान का आवरण दूर हो जाता है ज्ञान उसे बाहरी अर्थ, आलोक आदि

कारणों के बिना तथा तदुत्पत्ति और तदाकारता के बिना ही स्वतः स्वभाव ज्ञान उस वस्तु/पदार्थ विशेष को ही जानने लगता है, दूसरे को नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वावरणक्षयोपशम से पदार्थों की जुदी जुदी व्यवस्था कर देता है ऐसी हालत में ज्ञान पदार्थों से उत्पन्न होता है यह मानने की कोई जरूरत नहीं। एक बात यह भी है कि यदि पदार्थों से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानोगे तो जो वस्तु नष्ट हो चुकी है उसका ज्ञान भी नही होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। मृत, सड़ी गली और गुमी हुई वस्तुओं का ज्ञान होता ही है, इसलिए भी वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। **प्रतिनियत व्यवस्था किसे कहते हैं** ? इस ज्ञान का यह पदार्थ ही विषय है, अन्य नहीं ऐसी व्यवस्था को प्रतिनियत व्यवस्था कहते हैं। **क्षयोपशम किसे कहते हैं** ? सर्वघाति स्पर्धक अनन्तगुणहीन होकर और देशघाती स्पर्धकों में परिणत होकर उदय में आते हैं, उन सर्वघाती स्पर्धकों का अनन्तगुण-हीनत्व ही **क्षय** कहलाता है अथवा उदय प्राप्त उन आवरण कर्मों के वर्तमानकाल में उदयाभाव होने को क्षय कहते हैं और उनका देशघाती स्पर्धकों के रूप से अवस्थान होना **उपशम** है। अथवा अनुदय प्राप्त उन्हीं कर्मों के सत्ता में अवस्थित रहने को उपशम कहते हैं। उन्हीं क्षय और उपशम से संयुक्त उदय **क्षयोपशम** कहलाता है। कर्मों के क्षय और उपशम से उत्पन्न गुण **क्षायोपशमिक** कहलाता है।

जैसे प्रत्येक इन्द्रिय का विषय नियत होता है। चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप के प्रति नियत है। कर्ण इन्द्रिय का विषय शब्द के प्रति नियत है। यही प्रतिनियत व्यवस्था कहलाती है।

आत्मा में मतिज्ञान आदि कर्मों के अवग्रह आदि भेदों को लिए हुए असंख्यात आवरणी कर्म होते हैं। उनमें से जिस कर्म का क्षयोपशम [कुछ अंश प्रकट हो जाना] हो जाता है उसी के अनुरूप आत्मा को बाह्य पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। यदि अवग्रह ज्ञान का क्षयोपशम है और ईहा आदि कर्मों का क्षयोपशम नहीं है तो उस पदार्थ सम्बन्धी जिज्ञासा आदि उत्पन्न नहीं होती। जिस आत्मा में ईहा मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम अधिक

होगा वह अधिक जिज्ञासा रखेगा। अवाय मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर उसको निर्णय होता है यदि इस कर्म का क्षयोपशम नहीं है तो उस ज्ञान में कभी भी निर्णय नहीं हो पाता। इसी तरह धारणा आदि के विषय में जानना चाहिए। पदार्थों को जानने की यह व्यवस्था अपने कर्मों से ही होती है।

बौद्ध लोग पदार्थ को ज्ञान का कारण होने से परिच्छेद्य अर्थात् जानने योग्य ज्ञेय कहते हैं, आचार्य उनके मत का निराकरण करते हैं–

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

अन्वयार्थ–(कारणस्य) कारण का **(च)** और **(परिच्छेद्यत्वे)** जानने योग्य विषय मानने पर **(करणादिना)** इन्द्रियादि से **(व्यभिचारः)** दोष आता है।

सूत्रार्थ–कारण का ज्ञान को उत्पन्न होने रूप विषय मानने पर इन्द्रियादि से व्यभिचार (असंगत) दोष आता है, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान की कारण तो हैं परन्तु विषय नहीं हैं अर्थात् इन्द्रियाँ अपने आपको नहीं जानती हैं।

संस्कृतार्थ–यद्यत्कारणं तत्तत्प्रमेयम् इति व्याप्ति स्वीकारे तु इन्द्रियादिना व्यभिचारः संजायेत। चक्षुरादीनां ज्ञानम्प्रति कारणत्वेऽपि परिच्छेद्यत्वाभावात्।

टीकार्थ–जो-जो ज्ञान का कारण है वह-वह ज्ञान का विषय है। इस प्रकार व्याप्ति स्वीकार करने पर इन्द्रियादि के साथ दोष आएगा। चक्षु आदि इन्द्रियों का ज्ञान के प्रति कारणपना तो है परन्तु जानने योग्यपने का अभाव है अर्थात् वह स्वयं अपने आपको नहीं जानती हैं।

विशेषार्थ–बौद्धों का कहना है कि जो जो ज्ञान का कारण होता है वह वह ही ज्ञान का विषय होता है। बौद्धों की मान्यता वाले इस अनुमान में 'कारण होना' हेतु है और 'विषय होना' साध्य है। इन्द्रियों में हेतु 'कारण होना' तो रह गया क्योंकि वे ज्ञान में कारण हैं, परन्तु साध्य 'विषय होना' नहीं रहा। क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो अपनी इन्द्रियों से अपनी ही इन्द्रियों को जान लेवे। इस प्रकार इन्द्रियों के साथ व्यभिचार दोष आता है। हेतु के रहने पर साध्य के न रहने को **व्यभिचार** दोष कहते हैं।

सरल व्याख्या—जो पदार्थ ज्ञान का कारण होता है वह ही ज्ञान का विषय होता है यदि ऐसा माना जायेगा, तो इन्द्रियों के साथ व्यभिचार नाम का दोष हो जायेगा क्योंकि इन्द्रियाँ ज्ञान का कारण हैं विषय नहीं है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने आपको नहीं जानती हैं।

अब सूत्रकार अतीन्द्रिय जो मुख्य प्रत्यक्ष है, उसका स्वरूप कहते हैं–

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

अन्वयार्थ—**(सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणम्)** सुद्रव्य, सुक्षेत्र, सुकाल, सुभावरूप सामग्री-विशेष के द्वारा दूर हो गये हैं सम्पूर्ण आवरण जिसमें ऐसा वह **(अतीन्द्रियम्)** इन्द्रियातीत **(अशेषतः)** पूर्णरूप से विशद/निर्मल **(मुख्यम्)** मुख्यप्रत्यक्ष है—केवलज्ञान है।

सूत्रार्थ—सामग्री की विशेषता से दूर हो गये हैं, समस्त आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय और पूर्णतया विशद ज्ञान को मुख्यप्रत्यक्ष कहते हैं।

संस्कृतार्थ—सामग्री द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणा, तस्याः विशेषः समग्रतालक्षणः तेन विश्लेषितान्यखिलान्यावरणानि येन तत्तथोक्तम्, इन्द्रियाण्यतिक्रान्तम् अतीन्द्रियम्। तथा च यज्ज्ञानं सामग्रीविशेषनिराकृतसमस्त-ज्ञानावरणादिकर्मत्वात्, इन्द्रियागोचरत्वाच्च साकल्येन निर्मलं जायते। तन्मुख्य-प्रत्यक्षं पारमार्थिकप्रत्यक्षं वा प्रोच्यते इति भावः।

टीकार्थ—योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप लक्षण वाली सामग्री और उस सामग्री का विशेष सर्वकारण-कलापों की परिपूर्णता है। उस सामग्री विशेष से विघटित कर दिये हैं, अखिल (समस्त) आवरण जिसने ऐसा वह ज्ञान है। इन्द्रियों को अतिक्रमण—उल्लंघन करके अर्थात् इन्द्रियों की सहायता के बिना समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने में जो समर्थ है वह अतः अतीन्द्रिय है। और उसी प्रकार जो ज्ञान सामग्री विशेष एवं समस्त ज्ञानावरणादि कर्मों को निराकृत करने से, इन्द्रियों के अगोचर होने से, सम्पूर्णरूप से निर्मल होता है वह मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है यह सूत्र का भाव है।

सरल व्याख्या–योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्राप्ति को सामग्री कहते हैं। उन सभी सामग्री को एक साथ प्राप्त करना ही उस सामग्री की विशेषता है।

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इन पाँचों ज्ञान के आवरणों के नाश होने पर अतीन्द्रिय केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसे ही मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

यह मुख्य प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है।

१. सकल मुख्य प्रत्यक्ष – केवलज्ञान

२. विकल मुख्य प्रत्यक्ष – अवधिज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान

विकल प्रत्यक्ष ज्ञान भी आत्मा से ही होता है। इसलिए अतीन्द्रिय होने से इसे मुख्य प्रत्यक्ष में गिना जाता है।

मुख्य/पारमार्थिक प्रत्यक्ष पूर्णतया विशद क्यों है, उसका समाधान–

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥१२॥

अन्वयार्थ–(सावरणत्वे) आवरण सहित होने पर **(च)** और **(करणजन्यत्वे)** इन्द्रियों से उत्पन्न होने पर **(प्रतिबंधसम्भवात्)** रुकावट संभव होने से ज्ञान में अविशदता होती है।

सूत्रार्थ–क्योंकि आवरण सहित और इन्द्रिय जनित मानने पर ज्ञान का प्रतिबंध संभव है।

संस्कृतार्थ–सावरणत्वे करणजन्यत्वे च सत्येव ज्ञाने प्रतिबंधः सम्भवति। अतो यज्ज्ञानं निरावरणमतीन्द्रियं वा जायते तदेव मुख्यप्रत्यक्षमवगन्तव्यम्।

टीकार्थ–सावरणपना और इन्द्रियजन्यपना होने पर ही ज्ञान में प्रतिबंध संभव होता है इसलिए जो ज्ञान निरावरण और अतीन्द्रिय होता है उसे ही मुख्य प्रत्यक्ष जानना चाहिए।

विशेषार्थ–जिस ज्ञान को रोकने वाला आवरणकर्म मौजूद रहता है या जो इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होता है उस ज्ञान में मूर्त्त पदार्थ से रुकावट सम्भव होती है। जैसे जब हम अपने इन्द्रियजन्य ज्ञान से किसी

पदार्थ को जानना चाहते हैं तो वहीं तक जान सकते हैं जहाँ जक जानने की हमारी इन्द्रियों में शक्ति है। अथवा वहीं तक जान सकते हैं जहाँ तक कि कोई दीवाल वगैरह रोकने वाला नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिसका कोई भी रोकने वाला नहीं, वही ज्ञान मुख्यप्रत्यक्ष है। **मुख्यप्रत्यक्ष किसे कहते हैं**? मुख्यप्रत्यक्ष–इन्द्रिय, आलोक आदि समस्त पर वस्तुओं की सहायता से रहित केवल आत्मा के सन्निधि मात्र की अपेक्षा से उत्पन्न होता है अत: उसे अतीन्द्रिय कहते हैं। **मुख्यप्रत्यक्ष कितने प्रकार का है** ? तीन प्रकार का है–१. अवधिज्ञान, २. मन:पर्ययज्ञान, ३. केवलज्ञान। **अवधिज्ञान और मन:पर्यय-ज्ञान तो निरावरण नहीं है, फिर मुख्यप्रत्यक्ष क्यों है** ? अतीन्द्रिय होने से इन दोनों ज्ञानों में भी विशदता पाई जाती है। **केवलज्ञान मुख्यप्रत्यक्ष क्यों है**? केवलज्ञान अतीन्द्रिय और पूर्ण निरावरण है। **ज्ञान की विशदता के लिए आवश्यक क्या है** ? निरावरणता और अतीन्द्रियपना अत्यावश्यक है।

सरल व्याख्या–मुख्य प्रत्यक्ष इसलिए विशद है क्योंकि उसमें प्रतिबंध [रुकावट या बाधा] नहीं होता। वह प्रतिबंध होने का कारण ज्ञान का आवरण सहित होना एवं इन्द्रियों से उत्पन्न होना माना जाता है।

द्वितीय परिच्छेद का सारांश

इस अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेदों का वर्णन किया गया है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष। यद्यपि आचार्य माणिक्यनंदी जी ने इन दोनों प्रत्यक्षों के उपभेदों का वर्णन नहीं किया है फिर भी जैन सिद्धांत के अनुसार यह समझ लेना चाहिए कि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी चार प्रकार का होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन सभी ज्ञानों का विषय प्रत्यक्ष होने से ये सभी ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाते हैं। मुख्य प्रत्यक्ष के भेद तो सकल और विकल के भेद से दो प्रकार के कहे हैं। इस तरह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है। यह सिद्धांत इस अध्याय में बताया गया है।

निश्चयात्मक भाव श्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञान भी कथञ्चित् प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। यह अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष या मानस

प्रत्यक्ष कहलाता है। आचार्य विद्यानन्दस्वामी ने प्रमाण परीक्षा ग्रन्थ में प्रत्यक्ष के तीन भेद किये हैं।

"तत् त्रिविधं इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पनात्"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान तीन प्रकार का है–

१. इन्द्रिय प्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष, ३. अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष

इसमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मतिज्ञान को, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में भावश्रुतज्ञान को और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान को गर्भित कर लें तो सभी ज्ञानों में प्रत्यक्षपना सिद्ध हो जाता है।

अनिन्द्रिय मन को कहते हैं। ध्यान की अवस्था में यह मन काम करता रहता है।

अतीन्द्रिय यानि इन्द्रियातीत, आत्मा से सीधा उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही श्रुतज्ञान कथञ्चित् प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। वस्तुतः आचार्य अकलंक देव ने इसे परोक्ष प्रमाण ही माना है। आचार्य अकलंक देव ने मतिज्ञान और उसके भेदों को ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकारा है, यह तथ्य उनके 'लघीयस्त्रय' आदि ग्रन्थों को पढ़ने से स्पष्ट होता है। अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में भाव श्रुतज्ञान का ग्रहण हो सकता है, यह हमारा अपना अभिप्राय है। लघीयस्त्रय की विवृत्ति में मतिज्ञान के स्मृति, संज्ञा आदि भेदों को ही अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है।

"अनिन्द्रिय प्रत्यक्षं स्मृति संज्ञा चिन्ताभिनिबोधात्मकम्" श्लोक १६ की टीका।

इससे स्पष्ट होता है कि पूर्वाचार्यों में अकलंकदेव आदि ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं। एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष, दूसरा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मतिज्ञान 'मति' रूप में ग्रहण किया है और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध को लिया है।

॥ इति द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः॥

अथ तृतीयः परिच्छेदः

परोक्षस्य लक्षणं निर्णयो वा

परोक्ष का लक्षण और निर्णय

परोक्षमितरत् ॥१॥

अन्वयार्थ–(इतरत्) भिन्न–प्रत्यक्ष से भिन्न **(परोक्षम्)** परोक्ष प्रमाण है।

सूत्रार्थ–जो प्रत्यक्ष से इतर अर्थात् भिन्न है, वह परोक्ष है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न सर्व प्रमाण परोक्ष हैं।

संस्कृतार्थ–अविशदं परोक्षम्। अथवा यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो निर्मलो न भवति तत्परोक्षं कथ्यते।

टीकार्थ–अविशद ज्ञान परोक्ष है अथवा जिस ज्ञान का प्रतिभास निर्मल नहीं होता वह परोक्ष कहा जाता है।

विशेषार्थ–परोक्ष किसे कहते हैं?

प्रत्यक्ष से भिन्न अविशद स्वरूप वाला जो ज्ञान है, वह परोक्ष है। परोक्ष=परः+अक्ष–आत्मा से भिन्न इन्द्रियादि जो पर उनकी सहायता की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्षज्ञान है। 'पराणीन्द्रियाणि आलोकादिश्च परेषां ज्ञानं परोक्षम्', पर का अर्थ इन्द्रियाँ और आलोकादि हैं और पर अर्थात् इन इन्द्रियादि के आधीन जो ज्ञान होता है, वह परोक्षज्ञान है।

सरल व्याख्या–अविशद ज्ञान परोक्ष है अर्थात् जिस ज्ञान का प्रतिभास निर्मल नहीं होता वह परोक्ष कहा जाता है।

परोक्ष–अक्षाणाम् परं परोक्षम्, अक्षेभ्यः परतो वर्तनं वर्तत इति वा परोक्षम्। आत्मा से भिन्न इन्द्रियादि जो पर हैं, उनकी सहायता की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्षज्ञान है।

परोक्ष के भेद और कारण को इस सूत्र में कहते हैं–

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम भेदम् ॥२॥

अन्वयार्थ–(प्रत्यक्षादिनिमित्तं) प्रत्यक्ष आदि निमित्त हैं जिसके तथा

(स्मृति-प्रत्यभिज्ञान-तर्कानुमानागम) स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम **(भेदम्)** भेद वाला परोक्षज्ञान है।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्षादि जिसके निमित्त हैं, ऐसा परोक्ष प्रमाण स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से पाँच प्रकार का है।

विशेषार्थ—सूत्र में आदि शब्द से परोक्ष का ग्रहण करना है 'प्रत्यक्षादि निमित्तं यस्य' प्रत्यक्षादि हैं निमित्त जिसके ऐसा विग्रह है 'ते भेदाः यस्य' वे स्मृति आदिक जिसके भेद हैं। ऐसा विग्रह है और स्मृति आदि में द्वन्द्व समास है। वे स्मृति आदिक हैं भेद जिसके वह परोक्ष प्रमाण है, ऐसा विग्रह करके सूत्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

संस्कृतार्थ—प्रत्यक्षादयः षट् परोक्षस्य कारणानि विद्यन्ते। तथा स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं, तर्कः, अनुमानं, आगमश्चेति पञ्च तस्य भेदाः सन्ति।

टीकार्थ—प्रत्यक्षादि छह परोक्षज्ञान के कारण हैं तथा परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद हैं।

विशेषार्थ—स्मृति प्रत्यक्षपूर्वक होती है। प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यक्ष और स्मरणपूर्वक होता है। प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञानपूर्वक तर्क होता है। प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क पूर्वक अनुमान होता है। श्रवण प्रत्यक्ष, स्मृति और संकेतपूर्वक आगम ज्ञान होता है। अविशद या अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। उसके पाँच भेद सूत्र में बतलाये हैं और उन्हें प्रत्यक्षादि निमित्तक कहा है। इनका खुलासा यह है कि पहले अनुभव किये हुए पदार्थ के स्मरण करने को स्मृति कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्मृतिज्ञान के लिए पूर्व अनुभवरूप धारणा प्रत्यक्ष निमित्त है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों निमित्त होते हैं, क्योंकि जिस पदार्थ को पहले देखा था उसी को पुनः देखने पर ''यह वही है, जिसे मैंने पहले देखा था'', ऐसा जो ज्ञान होता है, उसे ही प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इसमें पूर्वस्मरण और वर्तमान में पुनः दर्शनरूप प्रत्यक्ष ये दोनों निमित्त होते हैं। साध्य-साधन के अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान ये तीनों निमित्त हैं, क्योंकि जिसने अपने रसोईघर में

अग्नि से उत्पन्न हुए धूम को प्रत्यक्ष देखा है, वही व्यक्ति अन्यत्र कहीं से निकलते हुए धूम को देखकर अग्नि का स्मरण करता है और विचारता है कि यह धूम भी रसोईघर के धूम के सदृश है, ऐसा उसे सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है। पुनः वह निश्चय करता है कि ''जहाँ जहाँ धूम होगा वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होगी''। और ''जहाँ अग्नि नहीं होगी वहाँ धूम भी नहीं होगा'' इस प्रकार अग्नि और धूम के अविनाभावरूप व्याप्ति के ज्ञान का नाम तर्क है। इसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान तीनों ही निमित्त हैं। इसके पश्चात् वह किसी पर्वत आदि से धूम को निकलते हुए देखकर निश्चय करता है कि यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि इससे धूम निकल रहा है। इस प्रकार धूमरूप साधन से अग्निरूप साध्य के ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं। इस अनुमान में इससे पूर्व होने वाले प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये चारों ही ज्ञान निमित्त हैं। आप्त पुरुषों के वचनादि का निमित्त पाकर जो पदार्थ का ज्ञान होता है उसे आगम कहते हैं। इस आगम प्रमाण में ''इस शब्द से यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए'' इस प्रकार का संकेत और उसका स्मरण ये दोंनों निमित्त होते हैं। इस प्रकार इन सभी ज्ञानों के उत्पन्न होने में दूसरे ज्ञान निमित्त होते हैं अतः उन्हें परोक्ष कहा गया है।

सरल व्याख्या—ये पाँचों परोक्ष प्रमाण परस्पर में कारण हैं तथा प्रत्यक्ष भी उन सभी का कारण है।

अब क्रम प्राप्त स्मृति प्रमाण के लक्षण वा कारण दिखलाते हैं—

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

अन्वयार्थ—(संस्कारोद्बोधनिबन्धना) धारणारूप संस्कार की प्रकटता के निमित्त से होने वाले और **(तदित्याकारा)** 'वह' इस प्रकार के आकार वाला ज्ञान **(स्मृतिः)** स्मृति कहलाता है।

सूत्रार्थ—धारणारूप संस्कार की प्रकटता के निमित्त से होने वाले और 'तत्'(वह) इस प्रकार के आकार वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

संस्कृतार्थ—संस्कारस्य उद्बोधः (प्राकट्यं) सः निबन्धनं यस्याः सा तथोक्ता। या धारणाख्यसंस्कारप्राकट्यकारणिका तदित्युल्लेखिनी च जायते

सा स्मृतिः निगद्यते।

टीकार्थ—संस्कार का उद्‌बोध अर्थात् प्रकटपना वह है निबन्धन अर्थात् कारण जिसका वह स्मृति कही जाती है जो धारणानामक ज्ञानरूप संस्कार को प्रकटता करने वाली और वह 'तत्' इस प्रकार के आकार वाला यह उल्लेख वाली होती है वह स्मृति कही जाती है।

सरल व्याख्या—संस्कार से तात्पर्य यहाँ धारणामतिज्ञान से है।

स्मृति का मुख्य कारण धारणा ज्ञान है।

जिस वस्तु को कहीं देख कर उसका बुद्धि में निश्चय किया है वह धारणा ही फिर कभी स्मरण हो आती है तो वह स्मृतिज्ञान कहलाता है।

स्मृति का दृष्टांत कहते हैं–

स देवदत्तो यथा ॥४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जैसे (सः) वह (देवदत्तः) देवदत्त है।

सूत्रार्थ—जैसे कि वह देवदत्त।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ—किसी व्यक्ति ने पहले कभी देवदत्त नामक पुरुष को देखा और उसकी धारणा कर ली। पीछे वह धारणारूप संस्कार प्रकट हुआ और उसे याद आया कि वह देवदत्त है जिसे पहले देखा था। इस प्रकार उसके स्मरणरूप ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

सरल व्याख्या—धारणा मतिज्ञान का ही एक अन्तिम भेद है। उस धारणा से पुनः ज्ञान प्राप्ति होना ही एक तरह से स्मृतिज्ञान की प्राप्ति है।

सूत्र २ में स्मृति ज्ञान का कारण 'प्रत्यक्ष आदि निमित्त' कहा है। इससे स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अलग है और स्मृति रूप परोक्ष प्रमाण भिन्न है। इतना अवश्य है कि यह परोक्ष प्रमाण उस प्रत्यक्ष प्रमाण के कारण ही उत्पन्न होता है।

इस तरह परोक्ष प्रमाण का प्रथम भेद स्मृतिज्ञान है।

अब क्रमप्राप्त प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप कहते हैं–

दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

अन्वयार्थ–(दर्शनस्मरणकारणकं) दर्शन और स्मरण हैं कारण जिसके ऐसे **(सङ्कलनं)** जोड़रूप ज्ञान को **(प्रत्यभिज्ञानं)** प्रत्यभिज्ञान कहते हैं जैसे **(इदं)** यह **(तदेव)** वही है **(तत्सदृशं)** उसके समान है **(तद्विलक्षणं)** उससे भिन्न है **(तत्प्रतियोगी)** उसका प्रतियोगी है **(इत्यादि)** इस प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद हो सकते हैं।

सूत्रार्थ–दर्शन और स्मरण जिसके कारण हैं ऐसे जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे–यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि।

संस्कृतार्थ–दर्शनं च स्मरणं च दर्शनस्मरणे ते कारणे यस्य तत्तथोक्तं तथा च दर्शनस्मरणहेतुकत्वे सति संकलनात्मकज्ञानत्वं प्रत्यभिज्ञानत्वम्। तच्चैकत्वं, सादृश्यं, वैलक्षण्यं, प्रातियौगिकञ्चेति चतुर्विधम्। तदेवेदमित्येकत्व-प्रत्यभिज्ञानम्। तत्सदृशमिति सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तद्विलक्षणमिति वैलक्षण्य-प्रत्यभिज्ञानम्। तत्प्रतियोगीति प्रातियौगिकप्रत्यभिज्ञानम्।

टीकार्थ–दर्शनं च स्मरणं च दर्शनस्मरणे यहाँ द्वन्द्व समास है, और ये दोनों हैं कारण जिसमें यह बहुब्रीहि समास है। दर्शन और स्मरण है कारण जिसके ऐसे जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं और वह प्रत्यभिज्ञान–एकत्व, सादृश्य, विलक्षण और प्रतियोगी के भेद से चार प्रकार का है। वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर और उसे ही पहले देखा था उसकी यादकर–१. यह वही है इस प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। २. यह उसके समान है इस प्रकार सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। ३. यह उससे विलक्षण है यह वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान है। ४. यह उसका प्रतियोगी है, इस प्रकार प्रातियोगी प्रत्यभिज्ञान है।

सरल व्याख्या–ज्ञान जब जिस धर्म को ग्रहण करता है तब उसका नाम भी वैसा ही पड़ जाता है। जैसे–

१. यह वही है	–	एकत्व प्रत्यभिज्ञान
२. यह उसके सदृश है	–	सादृश्य प्रत्यभिज्ञान
३. यह उससे विलक्षण है	–	वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान
४. यह उसका प्रतियोगी है	–	प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान

किसी देवदत्त नामके व्यक्ति को पहले देखकर जब उसका स्मरण हो आता है कि उसे हमने कहीं पहले देखा है तो वह स्मृतिज्ञान है। फिर जब हम उस स्मृति को प्रत्यक्ष में खड़े उस व्यक्ति से जोड़कर जानते हैं कि ''यह वही देवदत्त है'' तो यह प्रत्यभिज्ञान है।

स्मृति+प्रत्यक्ष=प्रत्यभिज्ञान। हिन्दू दर्शन में इसे 'उपमान' प्रमाण कहा है। एक उदाहरण से इन सभी भेदों को समझा जा सकता है।

मान लो आपने एक घोड़ा देखा, दूसरे दिन जब आप रास्ते पर निकले तो आपको वही घोड़ा फिर देखने को मिला तो आपने कहा यह वही घोड़ा है। जो कल देखा था यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान हुआ। फिर कभी एक घोड़ा देखा जो वही नहीं था किन्तु उसके जैसा था इसलिए यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान हुआ। रथ में लगे निर्जीव घोड़ों को देखकर (जैसा कि सिवनी में है) ये घोड़े तो उससे भिन्न है यह विलक्षण प्रत्यभिज्ञान हुआ। यह घोड़ा उस घोड़े से छोटा या बड़ा है जो पहले देखा था इस प्रकार प्रतियोगीप्रत्यभिज्ञान होता है।

वस्तु की अपनी विशेषताओं के साथ हम जो कुछ भी जानते हैं वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान में गर्भित होता है ऐसा 'इत्यादि' पद से सूत्र में कहा है। जैसे यह हंस है, इसकी चोंच में नीर-क्षीर अलग करने का गुण है, यह गेंड़ा है, यह सात पत्तों वाला सप्तपर्ण वृक्ष है। इत्यादि।

इन प्रत्यभिज्ञान के भेदों का क्रम से उदाहरण दिखलाते हुए कहते हैं–

यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि ॥६॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(सः)** वह **(एव)** ही **(अयम्)** यह

(देवदत्तः) देवदत्त है **(गोसदृशः)** गाय के समान **(गवयः)** रोझ/नीलगाय है **(गोविलक्षणः)** गाय से भिन्न **(महिषः)** भैंसा है **(इदम्)** यह **(अस्मात्)** इससे **(दूरं)** दूर है **(अयम्)** यह **(वृक्षः)** वृक्ष है **(इत्यादि)** इत्यादि ।

सूत्रार्थ—जैसे–यह वही देवदत्त है (एकत्वप्रत्यभिज्ञान), गाय के समान नील गाय होती है (सदृश्यप्रत्यभिज्ञान), गाय से भिन्न भैंसा होता है (विलक्षणप्रत्यभिज्ञान), यह इससे दूर है (प्रतियोगी–प्रत्यभिज्ञान), यह वृक्ष है, (सामान्यप्रत्यभिज्ञान) इत्यादि।

संस्कृतार्थ—एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य स एवायं देवदत्तः, सादृश्य–प्रत्यभि–ज्ञानस्य गोसदृशो गवयः, वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानस्य गोविलक्षणो महिषः, प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञानस्य इदमस्माद्दूरमिति क्रमशः दृष्टान्ता विज्ञेयाः (प्रत्येतव्याः)।

टीकार्थ—एकत्व प्रत्यभिज्ञान का "यह वही देवदत्त है"। सादृश्य–प्रत्यभिज्ञान का "गाय के समान रोझ/नीलगाय है"। वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञान का "गाय से भिन्न भैंसा है"। प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान का "यह इससे दूर है"। इस प्रकार ये क्रमशः प्रत्यभिज्ञान के दृष्टान्त जानना चाहिए।

विशेषार्थ—दूध और जल का भेद करने वाला हंस होता है, छह पैर का भ्रमर माना गया है, तत्त्वज्ञों को सात पत्तों वाला विषमच्छद नामक वृक्ष जानना चाहिए, पाँच वर्णों वाला मेचक नामक रत्न होता है, विशाल स्तन वाली युवती होती है, एक सींग वाला गैंड़ा कहा जाता है, आठ पैर वाला अष्टापद होता है और सुंदर सटा (केशों की लट) से युक्त सिंह होता है। इत्यादि शब्दों को सुनकर पीछे से इसी प्रकार के हंस आदि को देखकर जब कोई व्यक्ति विचार करता है कि यह वही मिले हुए जल और दुग्ध का भेद करने वाला हंस है, तब यह संकलनरूप अनुसन्धानात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानना चाहिए। क्योंकि इन सभी उदाहरणों में वस्तु का वर्तमान में दर्शन और पूर्व धारणा का स्मरणरूप दोनों कारण समान हैं।

सरल व्याख्या—स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का देवदत्त के विषय में दिया

गया दृष्टान्त एक जैसा लगता है। किन्तु इसमें भिन्नता है। जो इस प्रकार है – वस्तु सामने प्रत्यक्ष हो तब स्मृति हो सकती है और प्रत्यक्ष न हो तब भी हो सकती है। किन्तु प्रत्यभिज्ञान तो सामने वस्तु होने पर ही होता है।

स्मृति में पूर्व का प्रत्यक्ष हुआ पदार्थ निमित्त बनता है किन्तु प्रत्यभिज्ञान में वर्तमान (अभी सामने का) प्रत्यक्ष हुआ पदार्थ निमित्त बनता है।

स्मृति में पदार्थ का स्मरण हो आता है जबकि प्रत्यभिज्ञान में पदार्थ में सदृशता, एकता आदि का ज्ञान करते हैं।

अब क्रम प्राप्त ऊह (तर्क) प्रमाण का स्वरूप कहते हैं–

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥७॥

अन्वयार्थ–(उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं) अन्वय और व्यतिरेक हैं कारण जिसमें ऐसे **(व्याप्तिज्ञानम्)** व्याप्ति के ज्ञान को **(ऊहः)** तर्क कहते हैं।

सूत्रार्थ–अन्वय और व्यतिरेक जिसमें निमित्त हैं, ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं अथवा साध्य और साधन का निश्चय और अनिश्चय है कारण जिसमें ऐसे व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

संस्कृतार्थ–उपलम्भश्चानुपलम्भश्च उपलम्भानुपलम्भौ निश्चया-निश्चयावित्यर्थः, तौ निमित्तं यस्य तत् उपलम्भानुपलम्भनिमित्तम्। तथा च साध्यसाधनविषयिकनिश्चयानिश्चयहेतुकत्वे सति व्याप्तिज्ञानत्वं तर्कत्वम्।

टीकार्थ–उपलम्भश्चानुपलम्भश्च उपलम्भानुपलम्भौ यह द्वन्द्व समास है। निश्चय और अनिश्चय इस प्रकार अर्थ है। वे दोनों निमित्त हैं जिसके वह निश्चयानिश्चयनिमित्तक है और उसी प्रकार साध्य-साधन विषय का निश्चय और अनिश्चय कारण होने पर व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

विशेषार्थ–अन्वय और व्यतिरेक किन्हें कहते हैं ? साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव अन्वय कहलाता है। साध्य के अभाव में साधन का अभाव व्यतिरेक कहलाता है। **व्याप्ति व अविनाभाव किन्हें कहते हैं** ? अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जहाँ-जहाँ साधन (हेतु) हो, वहाँ-वहाँ साध्य का होना और जहाँ-जहाँ साध्य नहीं हो, वहाँ-वहाँ साधन के भी न होने को अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं। जैसे-जहाँ-जहाँ धूम है,

वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं है।

सरल व्याख्या—यह तर्क प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न है। प्रत्यक्ष प्रमाण से तो हम अग्नि और धुँए को अलग-अलग या एक साथ देख सकते हैं। अग्नि और धुँए का जो अविनाभाव सम्बन्ध है, वह इस तर्क प्रमाण से ही जाना जाता है।

जब हम कई बार धुँए को देखते हैं तो हम अग्नि भी वहीं पाते हैं। यही प्रत्यक्षज्ञान जब निश्चित हो जाता है तो हम किसी भी समय किसी भी स्थान पर धुँए को देखकर अग्नि के सद्भाव की भी व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं, बस यही अविनाभाव सम्बन्ध कि ''धुँआ अग्नि से अलग नहीं है'' व्याप्ति कहलाता है। इसी को तर्क कहते हैं।

यहाँ उपलम्भ का अर्थ है प्राप्ति। वह प्राप्ति अन्वयसम्बन्ध से होती है और वह ही साधक के निश्चित होने का कारण है। इसी तरह अनुपलम्भ का अप्राप्ति है। वह अप्राप्ति व्यतिरेक सम्बन्ध से होती है और वह ही साध्य के अनिश्चित होने का कारण है।

व्याप्ति ज्ञान हेतु और साध्य के बीच का एक विशिष्ट सम्बन्ध बताता है।

व्याप्ति के ज्ञानरूप तर्क का उदाहरण—

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव ॥८॥
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ॥९॥

अन्वयार्थ—(इदम्) यह **(अस्मिन्)** इसके **(सति)** होने पर **(एव)** ही **(भवति)** होता है **(तु)** किन्तु **(असति)** नहीं होने पर **(न)** नहीं **(एव)** ही **(भवति)** होता **(यथा)** जैसे **(अग्नौ)** अग्नि के होने पर **(एव)** ही **(धूमः)** धुआँ होता है **(च)** और **(तदभावे)** उसके अभाव में **(न)** नहीं **(एव)** ही **(भवति)** होता है।

सूत्रार्थ—यह साधनरूप वस्तु इस साध्यरूप वस्तु के होने पर ही होती है और साध्य रूप वस्तु के नहीं होने पर नहीं होती है जैसे—अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता है।

संस्कृतार्थ—स च तर्कः इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवति इत्येवध्रूमः प्रवर्तते, यथा वह्नौ सत्येव धूमः उपलभ्यते, वह्न्यभावे तु नैवोपलभ्यते।

टीकार्थ—और वह तर्क ''यह इसके होने पर ही होता है परन्तु नहीं होने पर नहीं होता है'' इस ही रूप तर्क की प्रवृत्ति होती है। जैसे—अग्नि के होने पर ही धूम की उपलब्धि होती है, परन्तु अग्नि के अभाव में धूम की प्राप्ति नहीं होती है।

सरल व्याख्या—व्याप्ति दो प्रकार की होती है—१. अन्वय व्याप्ति, २. व्यतिरेक व्याप्ति।

उदाहरण—सूर्य के होने पर दिन होता है और सूर्य के न होने पर दिन नहीं होता है इसी अविनाभाव सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है।

अन्वय व्याप्ति में साध्य को पहले रखकर साधन का सद्भाव दिखाया जाता है।

व्यतिरेक व्यप्ति में साध्य के नहीं होने पर साधन का अभाव दिखाया जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण में सूर्य साध्य है और दिन साधन है तथा इसी प्रकार धूम साधन है अग्नि साध्य है।

इस समय अनुमान का क्रम प्राप्त है अतः उसके लक्षण को कहते हैं—

साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(साधनात्) साधन से **(साध्यविज्ञानम्)** साध्य का विशिष्ट ज्ञान **(अनुमानम्)** अनुमान कहलाता है।

सूत्रार्थ—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

संस्कृतार्थ—साधनाद् धूमादेः लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं जायते तदनुमानं, तस्यैवाग्न्याद्यव्युत्पत्तिविच्छित्तिकरणत्वात्। साधनाज्जायमानं

साध्यविज्ञानमेवानुमानमिति भावः।

टीकार्थ—साधन धूमादिरूप लिंग से, साध्य अग्नि आदिरूप लिंगी में जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है। उस अनुमान के अग्नि सम्बन्धी अज्ञान का निराकरण होता है। साधन से उत्पन्न साध्य का ज्ञान **अनुमान** कहलाता है यह भाव है।

सरल व्याख्या—इस अनुमान ज्ञान को लैंगिक ज्ञान कहते हैं।

लिंग, चिह्न या हेतु को कहते हैं। जैसे—धुँआ।

लिंगी साध्य को कहते हैं। जैसे—अग्नि।

लिंग से लिंगी का ज्ञान अर्थात् साधन से साध्य का ज्ञान ही अनुमान (लैगिंक) ज्ञान कहलाता है।

यह ज्ञान तर्क के बाद ही उत्पन्न होता है।

तर्क प्रमाण में अविनाभाव सम्बन्ध लगाया जाता है, वही तर्क जब दृढ़ हो जाता है तो अनुमान प्रमाण बन जाता है।

तर्क प्रमाण से साधन-साध्य का सम्बन्ध निश्चित किया जाता है किन्तु अनुमान प्रमाण में सम्बन्ध निश्चित हो जाने के बाद साधन को देखते ही साध्य का ज्ञान कर लेते हैं। जैसे धुँए को देखकर यह सोचना कि अग्नि के होने पर धुँआ होता है और नहीं होने पर नहीं होता है। यह तर्क प्रमाण है और धुँए को देखते ही अग्नि का अनुमान लगा लेना, यह अनुमान प्रमाण है।

साधन (हेतु) का लक्षण कहते हैं—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥११॥

अन्वयार्थ—(साध्याविनाभावित्वेन) साध्य के साथ अविनाभावी होने से जो **(निश्चितः)** निश्चित होता है वह **(हेतुः)** हेतु/साधन है।

सूत्रार्थ—जिसका साध्य के साथ अविनाभावरूप से सम्बन्ध निश्चित होता है अर्थात् जो साध्य के बिना नहीं हो सकता उसे हेतु कहते हैं।

संस्कृतार्थ—निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य साध्या-

भावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्यायः। साध्यान्यथानुपत्ति-स्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः।

टीकार्थ—जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है, उसे साधन कहते हैं। जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति, अविनाभाव आदि अन्य नामों वाली है साध्यान्यथानुपपत्ति–''साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना'', यह **तर्क** नाम का प्रमाण है और इस तर्क नामक प्रमाण के द्वारा जो निर्णीत होता है, वह साधन/**हेतु** कहलाता है, यह अर्थ है।

सरल व्याख्या—जो जिसके बिना न हो, उसे अविनाभाव कहते हैं।

हेतु, साधन, निबन्धन, निमित्त, कारण, लिंग ये सब एकार्थवाची शब्द है।

अनुमान के लक्षणों में जो 'साधन' शब्द आया है उसका यहाँ लक्षण बताया है।

जो साध्य के बिना नहीं रहता है, वह साधन है, हेतु है। यह साधन साध्य का निश्चय करा देता है, यही इसका एक लक्षण है जैसे धूम ही अग्नि का निश्चय करा देता है।

अब अविनाभाव के भेदों को दिखलाते हुए आचार्य सूत्र कहते हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(सहक्रमभावनियमः) सहभाव व क्रमभाव का नियम **(अविनाभावः)** अविनाभाव है।

सूत्रार्थ—सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं।

संस्कृतार्थ—साध्यसाधनयोः साहचर्यनियमः क्रमवर्तित्वनियमो वा अविनाभावः प्रोच्यते। सहभाव नियमः, क्रमभावनियमश्चेति द्वौ तस्या-विनाभावस्य भेदौ स्तः।

टीकार्थ—साध्य और साधन का एक साथ एक समय होने का नियम

साहचर्य/सहभावनियम अविनाभाव है और काल के भेद से साध्य और साधन का क्रम से होने का नियम क्रमभावनियम इस प्रकार उस अविनाभाव के दो भेद हैं।

सरल व्याख्या—एक साथ रहने वाले साध्य-साधन के सम्बन्ध को सहभाव अविनाभाव कहते हैं।

काल के भेद से क्रमपूर्वक होने वाले साध्य-साधन के सम्बन्ध को क्रमभाव अविनाभाव कहते हैं।

अब आचार्य सहभावनियम का विषय दिखलाते हुए सूत्र कहते हैं—

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१३॥

अन्वयार्थ—(सहचारिणोः) सदा साथ रहने वाले में **(च)** और **(व्याप्य-व्यापकयोः)** व्याप्य-व्यापक पदार्थों में **(सहभावः)** सहभाव नियम होता है।

सूत्रार्थ—सदा साथ रहने वाले के और व्याप्य-व्यापक पदार्थों के सहभाव नियम होता है।

संस्कृतार्थ—सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्चाविनाभावः सहभाव-नियमाविनाभावः प्रोच्यते। यथा सहचारिणो रूपरसयोर्व्याप्यप्यापकयोश्च वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिति। सहभाव नियमोऽविनाभावो विद्येते।

टीकार्थ—साथ-साथ रहने वालों में तथा व्याप्य और व्यापक में जो अविनाभाव सम्बन्ध होता है, उसे सहभावनियम नामक अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं, जैसे सहचारी—साथ में रहने वाले रूप और रस में सहभावनियम होता है क्योंकि नीबू-आम आदि पदार्थों में रूप-रस को छोड़कर या रस-रूप को छोड़कर नहीं पाया जाता है, किन्तु दोनों साथ ही साथ रहते हैं, इसलिए इनमें सहभावनियम पाया जाता है और इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक जो शिंशपात्व और वृक्षत्व हैं उनमें भी सहभावनियम पाया जाता है। वृक्षत्व व्यापक है और शिंशपात्व व्याप्य है, वृक्षत्व को छोड़कर शिंशपात्व कभी नहीं पाया जायेगा, अतः इनमें भी सहभावनियम जानना चाहिए।

सरल व्याख्या—सहचारी सम्बन्ध साथ में रहने वाले द्रव्य और गुणों

में होता है। जैसे–आत्मा में रहने वाले ज्ञान–दर्शन गुण यहाँ ज्ञान और दर्शन का आत्मा के साथ सहचर सम्बन्ध है। इसी तरह पुद्‌गल में रूप और रस का सहचर सम्बन्ध पाया जाता है।

व्यापक अर्थात् बहुत स्थान में रहने वाला। व्याप्य अर्थात् थोड़े स्थान में रहने वाला।

जैसे–किसी बगीचे में बहुत सारे वृक्ष लगे हैं उसी बगीचे में एक शीशम का भी वृक्ष है तो वृक्षत्व व्यापक हुआ और शिंशपा [शीशम] व्याप्य हुआ।

क्रमभाव नियम का विषय दिखलाते हुए कहते हैं–

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥

अन्वयार्थ–(पूर्वोत्तरचारिणोः) पूर्वचर और उत्तरचर में **(च)** तथा **(कार्यकारणयोः)** कार्य और कारण में **(क्रमभावः)** क्रमभावनियम होता है।

सूत्रार्थ–पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में क्रमभाव-नियम होता है।

संस्कृतार्थ–पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्चाविनाभावः क्रमभाव-नियमाविनाभावः प्रोच्यते। यथा पूर्वोत्तरचारिणोः कृतिकोदय–शकटोदययोः कार्यकारणयोश्च धूम–धूमध्वजयोः क्रमभावः।

टीकार्थ–पूर्वचर और उत्तरचर में तथा कार्य और कारण में जो अविनाभाव है उसे क्रमभाव–नियम अविनाभाव कहते हैं। जैसे–पूर्वोत्तरचारियों में पूर्वचर कृत्तिका नक्षत्र का उदय एक मुहूर्त पहले होता है और उत्तरचर शकट (रोहणी) नक्षत्र का उदय एक मुहूर्त पीछे होता है अतः ये दोनों नक्षत्र पूर्वचर और उत्तरचर कहलाते हैं। उदय होने की अपेक्षा दोनों में क्रमभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार कारण और कार्य में अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है। इसलिए कारण और कार्य में भी क्रमभावनियम होता है।

सरल व्याख्या–जैसे आज शनिवार है तो शुक्रवार शनिवार के लिए पूर्वचर हेतु हुआ और रविवार शनिवार के लिए उत्तरचर हेतु है।

शुक्रवार --- शनिवार --- रविवार

| |

पूर्वचर हेतु उत्तरचर हेतु

कार्य-कारण में क्रमभाव सम्बन्ध होता है जैसे मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है और घट कारण है कपाल कार्य है अथवा अग्नि कारण है धुँआ कार्य है।

अविनाभाव का निर्णय (व्याप्ति ज्ञान का निर्णय) किस प्रमाण से होता है—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥१५॥

अन्वयार्थ—(तर्कात्) तर्क प्रमाण से **(तन्निर्णयः)** उस अविनाभाव का निश्चय होता है।

सूत्रार्थ—अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय/निर्णय/परिज्ञान तर्क प्रमाण से होता है।

संस्कृतार्थ—स हि अविनाभावस्तर्कप्रमाणादेव निश्चीयते।

टीकार्थ—वह अविनाभाव निस्संदेह तर्क प्रमाण से ही निश्चित होता है।

विशेषार्थ—''जहाँ-जहाँ साधन होता है वहाँ-वहाँ साध्य का रहना'' और ''जहाँ-जहाँ साध्य नहीं होता वहाँ-वहाँ साधन का नहीं रहना''। इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय/निर्णय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं होता, तर्क प्रमाण से ही होता है एवं अन्य मतावलम्बियों ने तर्क को प्रमाण नहीं माना है। अतः उनके द्वारा मान्य प्रमाण संख्या मिथ्या ठहरती है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव इन किसी भी प्रमाण से व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता है। तब उनके द्वारा मानी हुई प्रमाण संख्या कैसे ठीक रहेगी ? इसलिए सभी को तर्क प्रमाण मानना ही चाहिए। तर्क ही निर्णायक होता है।

साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, ऐसा प्रतिपादन तो हो चुका किन्तु साध्य किसे कहते हैं यह ज्ञात न हो सका। अब साध्य का लक्षण

कहते हैं–

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥१६॥

अन्वयार्थ–(इष्टं अबाधितं असिद्धं) इष्ट/अभिप्रेत, अबाधित/बाधा रहित और असिद्ध को **(साध्यम्)** साध्य कहते हैं।

सूत्रार्थ–जो वादी को इष्ट, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित और असिद्ध होता है उस पदार्थ को साध्य कहते हैं।

संस्कृतार्थ–यद्वादिनः साधयितुमिष्टं, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरबाधितं, संशयाद्याक्रान्तं असिद्धं च विद्यते तत्साध्यं प्रोच्यते।

टीकार्थ–जिसे वादी सिद्ध करना चाहता है, उसे **इष्ट** कहते हैं। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण के द्वारा जो बाधित नहीं है वह **अबाधित** कहलाता है। और जो संशयादि को प्राप्त है, किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ हो उसे **असिद्ध** कहते हैं, क्योंकि सिद्ध का साधन करने में कोई लाभ नहीं है अतः इन तीन विशेषण से सहित साध्य कहा जाता है। साध्य लक्ष्य है। इष्ट, अबाधित और असिद्ध लक्षण हैं।

सरल व्याख्या–इस सूत्र में इष्ट, अबाधित, और असिद्ध ये तीन विशेषण हैं। इस सूत्र में साध्य लक्ष्य है और इष्ट, अबाधित और असिद्ध लक्षण हैं।

जब कोई वकील किसी केश को हाथ में लेता है तो उसके साध्य में ये तीनों लक्षण घटित होते हैं।

वह उसी केश को हाथ में लेगा जो उसे इष्ट है। जिसे किसी प्रमाण से सिद्ध करने में बाधा न आये और जिसका पहले निर्णय न हुआ हो। इसी तरह न्याय के विषय में समझना।

अब अपने द्वारा कहे हुए साध्य के लक्षण के विशेषणों की सफलता–सार्थकता बतलाते हुए असिद्ध विशेषण का समर्थन करने के लिए कहते हैं–

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥१७॥

अन्वयार्थ–(संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां) संदिग्ध, विपरीत, अव्युत्पन्न

पदार्थों के **(साध्यत्वं)** साध्यपना **(यथा)** जिस प्रकार से **(स्यात्)** हो **(इति)** इसलिए साध्य के लक्षण में **(असिद्धपदम्)** असिद्ध पद दिया है।

सूत्रार्थ—संदिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के साध्यपना जिस प्रकार से माना जा सके, इसलिए साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया है।

संस्कृतार्थ—संशयविपर्ययानध्यवसायगोचराणां पदार्थानां साध्यत्व-संकल्पनार्थं साध्यलक्षणेऽसिद्धपदमुपादीयते।

टीकार्थ—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के विषयभूत पदार्थों के साध्यपने को सिद्ध करने के लिए साध्य के लक्षण में असिद्धपद को ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वस्तु स्वयं सिद्ध होती है, उसके सिद्ध करने का प्रयास मूर्खता और पिष्टपेषण ही है। इसलिए जिसमें संशयादि हों उसे ही सिद्ध करना उचित है, इस बात को बतलाने के लिए साध्य के लक्षण में असिद्ध पद दिया गया है। यह स्थाणु है या पुरुष है इस प्रकार चलित प्रतिपत्ति के विषयभूत उभयकोटि के परामर्श वाली संशय से युक्त वस्तु **संदिग्ध** कहलाती है। विपरीत वस्तु का निश्चय करने वाले विपर्यय ज्ञान के विषयभूत (सीप में) चाँदी आदि पदार्थ **विपर्यस्त** कहलाते हैं। नाम, जाति, संख्यादि का विशेष परिज्ञान न होने से अनिर्णीत विषय वाले अनध्यवसाय ज्ञान से ग्राह्य पदार्थ को **अव्युत्पन्न** कहते हैं।

सरल व्याख्या—यह असिद्ध पद प्रतिवादी की अपेक्षा से होता है।

प्रतिवादी के लिए वह साध्य संदिग्ध, विपर्यय और अव्युत्पन्न होना चाहिए, तभी तो वादी उसे सिद्ध करेगा इसलिए साध्य के लक्षण में दिया गया असिद्ध पद सार्थक है।

जिस विषय में संदेह हो, जिस विषय का विपरीत ग्रहण हुआ है और जिस विषय का कभी निर्णय ही न किया गया हो, वही असिद्ध विषय है।

अब साध्य के इष्ट और अबाधित इन विशेषणों की सफलता दिखलाते हैं—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः) अनिष्ट और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के **(साध्यत्वं)** साध्यपना **(मा भूत्)** न हो **(इति)** इसलिए साध्य को **(इष्टाबाधितवचनं)** इष्ट और अबाधित ये वचन दिये गये हैं।

सूत्रार्थ—अनिष्ट और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित पदार्थों के साध्यपना न माना जाये, इसलिए इष्ट और अबाधित ये दो विशेषण साध्य को दिए गए हैं।

संस्कृतार्थ—अनिष्टस्य प्रत्यक्षादिबाधितस्य च पदार्थस्य साध्यत्वं निरासार्थम् इष्टाबाधितपदयोरुपादानं कृतम्।

टीकार्थ—अनिष्ट, प्रत्यक्ष, परोक्षादि प्रमाण से बाधित पदार्थ के साध्यपने का निराकरण करने के लिए इष्ट और अबाधित इन दो पदों को ग्रहण किया गया है।

विशेषार्थ—जिस वस्तु को वादी सिद्ध नहीं करना चाहता है, उसे अनिष्ट कहते हैं और उसे सिद्ध करने का प्रयास अप्राकारणिक असामयिक है इसलिए ऐसी वस्तु साध्य नहीं हो सकती। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए साध्य के लक्षण में इष्ट विशेषण दिया है। जिस पदार्थ को हम सिद्ध करना चाहते हैं, वह कदाचित् दूसरे प्रमाण से बाधित हो तो प्रमाणान्तर उसे सिद्ध नहीं कर सकता अर्थात् जो किसी दूसरे प्रमाण से बाधित होगा वह भी साध्य नहीं हो सकता। इस बात को स्पष्ट करने के लिए साध्य के लक्षण में अबाधित वचन दिया गया है। आदि शब्द से बाधित-प्रत्यक्ष से, परोक्ष से, अनुमान से, आगम से, लोक से तथा स्ववचन से इत्यादि अनेक प्रकार से बाधित इन परोक्षप्रमाण के भेदों का ग्रहण किया जाता है।

सरल व्याख्या—जिस वस्तु को वादी सिद्ध नहीं करना चाहता है, उसे अनिष्ट कहते हैं।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो विषय बाधित हो उसे बाधित विषय कहते हैं।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि अनिष्ट और प्रत्यक्षादि से बाधित विषय वाले साध्य नहीं होते। साध्य इष्ट और अबाधित होना चाहिए। यदि साध्य अनिष्ट होगा तो वादी उसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। वादी उसे ही सिद्ध करता है जो इष्ट हो इसलिए इस सूत्र में अनिष्ट का साध्यपना नहीं होता है, यह बताया गया है। इसी प्रकार वादी उसे सिद्ध करता है जो प्रत्यक्षादि से बाधित न हो जैसे–अग्नि शीतल होती है, घट दिखाई नहीं देता इत्यादि विषयों को वादी कभी साध्य नहीं बनाता। इसलिए सूत्र में कहा गया कि अबाधित विषयों का साध्यपना नहीं होता ।

साध्य के लक्षण में तीनों विशेषणों के मध्य में असिद्ध पद प्रतिवादी की अपेक्षा ही ग्रहण किया है, इष्टपद वादी की अपेक्षा ग्रहण किया है, ऐसा भेद प्रदर्शित करने के लिए यह सूत्र कहते हैं–

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥१९॥

अन्वयार्थ–(च) और **(असिद्धवत्)** असिद्ध के समान **(इष्टं)** इष्ट विशेषण **(प्रतिवादिनः)** प्रतिवादी की अपेक्षा से **(न)** नहीं है।

सूत्रार्थ–जिस प्रकार असिद्ध–विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से है; उस प्रकार इष्ट–विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा से नहीं है किन्तु वादी की अपेक्षा से है।

संस्कृतार्थ–न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणमपि तु किञ्चित्किमप्यु–द्दिश्य भवतीति। असिद्धवदिति व्यतिरेकमुखेनोदाहरणम्। यथा असिद्ध–विशेषणं प्रतिवाद्यपेक्षया प्रोक्तं न तथा इष्टविशेषणमितिभावः।

टीकार्थ–निस्संदेह सभी विशेषण सभी की अपेक्षा से नहीं होते हैं, अपितु कोई विशेषण किसी (वादी) की अपेक्षा से होता है और कोई विशेषण किसी (प्रतिवादी) की अपेक्षा से होता है। 'असिद्ध के समान' यह व्यतिरेकमुख से उदाहरण दिया गया है जैसे–असिद्ध विशेषण प्रतिवादी की अपेक्षा कहा गया, उस प्रकार से इष्ट विशेषण नहीं है अर्थात् इष्ट विशेषण वादी की

अपेक्षा कहा गया है, यह भाव है।

इष्ट-विशेषण वादी की अपेक्षा होने का कारण–

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२०॥

अन्वयार्थ–(प्रत्यायनाय) दूसरे को समझाने के लिए **(हि)** निश्चय से **(इच्छा)** इच्छा **(वक्तुः)** वक्ता के **(एव)** ही होती है।

सूत्रार्थ–दूसरों को समझाने की इच्छा वक्ता के ही होती है।

संस्कृतार्थ–साध्यप्रज्ञापनविषयिणी इच्छा वादिन एव भवति न तु प्रतिवादिनः। अतः साध्ये इष्टविशेषणं वादिनः अपेक्षातः एव विद्यते।

टीकार्थ–साध्य को समझाने/प्रतिबोधित/सिद्ध करने सम्बन्धी इच्छा वादी (वक्ता) के ही होती है, परन्तु प्रतिवादी के नहीं। इसलिए साध्य में इष्ट विशेषण वादी की अपेक्षा से ही है।

विशेषार्थ–जो पहले अपने पक्ष को स्थापित करता है, उसे **वादी** कहते हैं और जो उसका निराकरण करता है, उसे **प्रतिवादी** कहते हैं। अतः अपने पक्ष को समझाने की इच्छा वादी के ही होती है, प्रतिवादी के नहीं। इसलिए जब साध्य को सिद्ध करना वादी को ही इष्ट होता है तो इष्ट-विशेषण वादी की अपेक्षा है, प्रतिवादी की अपेक्षा नहीं। पक्ष को समझाने के लिए **असिद्धवत्** यह उदाहरण व्यतिरेकमुख से दिया गया है।

सरल व्याख्या–इच्छा का विषयभूत पदार्थ इष्ट कहलाता है।

वह साध्य क्या धर्म होता है अथवा धर्म-विशिष्ट धर्मी ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तर देते हैं–

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२१॥

अन्वयार्थ–(क्वचित्) कहीं पर **(धर्मः)** धर्म **(साध्यं)** साध्य होता है **(वा)** अथवा कहीं पर **(तद्विशिष्टः)** उस धर्म से युक्त **(धर्मी)** धर्मी।

सूत्रार्थ–कहीं पर धर्म साध्य होता है और कहीं पर धर्म विशिष्ट धर्मी साध्य होता है।

संस्कृतार्थ–व्याप्तिकालापेक्षया धर्म एव साध्यो भवति। परन्तु

अनुमानप्रयोगापेक्षया धर्मविशिष्टो धर्मी साध्यत्वेन प्रयुज्यते।

टीकार्थ–व्याप्ति काल की अपेक्षा धर्म ही साध्य होता है और अनुमान प्रयोग के समय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्यपने से प्रयुक्त होता है।

विशेषार्थ–जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ धूम भी नहीं होता। इस प्रकार से जब किसी शिष्यादि को साध्य-साधन का ज्ञान कराया जाता है, तब उसे व्याप्तिकाल कहते हैं। इस व्याप्तिकाल में अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है। इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि वह धूमवाला है, इस प्रकार से अनुमान के प्रयोग करने को प्रयोगकाल कहते हैं, उस समय अग्निरूप धर्म से विशिष्ट धर्मीरूप पर्वत ही साध्य होता है।

सरल व्याख्या–व्याप्ति प्रयोग के समय धर्म ही साध्य होता है और अनुमान प्रयोग के समय धर्म से विशिष्ट धर्मी साध्यपने से प्रयुक्त होता है।

जब हम व्याप्ति का ज्ञान करते हैं तो साध्य ही धर्म होता है। जैसे जहाँ धुँआ है वहाँ अग्नि है, यहाँ पर साध्य अग्नि हुई, यह अग्निरूप धर्म ही व्याप्ति के समय साध्य होता है किंतु इसके बाद जब हम किसी पर्वत आदि में अग्नि सिद्ध करते हैं, तो उस अनुमान प्रयोग के समय यह पर्वत अग्निवाला है इस प्रकार से कहा जाता है। उस समय पर अग्नि रूप धर्म से विशिष्ट [सहित] पर्वत साध्य हो जाता है क्योंकि पर्वत में अग्नि सिद्ध करना है। प्रस्तुत उदाहरण में पर्वत ही धर्मी है।

जब साध्य केवल धर्म होता है तो उससे धर्मी का कोई ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे- हमने धुँआ देखा तो हमें अग्नि का अनुमान हो गया किंतु वह अग्नि कहाँ पर है, इस बात का ज्ञान नहीं होता, यह तभी हो सकता है जब धर्मी को साध्य बनाया जाय।

अब आचार्य इसी धर्मी का पर्यायवाची दूसरा नाम कहते हैं–

पक्ष इति यावत् ॥२२॥

अन्वयार्थ–(पक्षः) पक्ष **(इति)** इस प्रकार है **(यावत्)** जैसा धर्मी।

सूत्रार्थ–उसी धर्मी को पक्ष कहते हैं। पक्ष इस प्रकार धर्मी का ही

पर्यायवाची नाम है।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ—यद्यपि सूत्रकार ने केवल धर्मी को पक्ष कहा है, तथापि उनका अभिप्राय साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहने का है, इससे धर्म-धर्मी के समुदाय का अर्थ आ ही जाता है। अतः पूर्व सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं है।

यहाँ पर बौद्ध कहते हैं कि भले ही धर्मी को पक्ष इस नाम से कहा जाये तथापि वह धर्मी सविकल्पबुद्धि में ही वर्तमान है, वास्तविक नही, क्योंकि सर्व ही अनुमान-अनुमेय का व्यवहार विकल्पबुद्धि से गृहीत धर्म-धर्मी के न्याय से होता है अतः वह अनुमान-अनुमेय का व्यवहार बाहिरी सत् या असत् वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है ऐसा कहा गया है। बौद्धों की मान्यता है कि अनुमान एक विकल्प है, क्योंकि वह सामान्य को ग्रहण करता है। अनुमान में जो धर्म और धर्मी का ग्रहण होता है वह विकल्पबुद्धि के द्वारा ही होता है और विकल्पबुद्धि (कल्पनाज्ञान) अर्थ के बिना भी वासना (संस्कार) मात्र से उत्पन्न हो जाती है। अतः अनुमान-अनुमेय के व्यवहार में बाह्य पदार्थ की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता या असत्ता की अपेक्षा के बिना ही विकल्पबुद्धि से गृहीत धर्म और धर्मी के द्वारा अनुमान-अनुमेय का व्यवहार होता है। इससे बौद्धों के मतानुसार यह सिद्ध हुआ कि धर्मी का प्रतिभास विकल्पबुद्धि से होने के कारण उसकी सत्ता वास्तविक नहीं है।

आचार्य उनके इस कथन का निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं—

प्रसिद्धो धर्मी ॥२३॥

अन्वयार्थ—(धर्मी) धर्मी **(प्रसिद्धः)** प्रसिद्ध होता है।

सूत्रार्थ—धर्मी प्रसिद्ध अर्थात् प्रमाण से सिद्ध होता है, काल्पनिक नहीं।

संस्कृतार्थ—धर्मी (पक्षः) प्रसिद्धो विद्यते, अवस्तुस्वरूपः, कल्पितो वा नो विद्यते।

टीकार्थ—धर्मी (पक्ष) प्रसिद्ध होता है, अवस्तुस्वरूप और कल्पित नहीं होता है।

विशेषार्थ—बाह्य और अन्तरंग पदार्थ के आलम्बनभाव से रहित यह विकल्पबुद्धि धर्मी की व्यवस्था नहीं करती है, क्योंकि उस धर्मी के अवास्तविक होने से उसके आधारभूत साध्य और साधन के भी वास्तविकता नहीं बन सकती है। इसलिए अनुमान-बुद्धि के परम्परा से भी वस्तु की व्यवस्था के कारणपने का अयोग है। बौद्धों के यहाँ दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्य है। उनका सामान्य नैयायिक आदि के सामान्य के समान वस्तु नहीं है, किन्तु अवस्तु है। तब प्रश्न यह होता है कि अवस्तु को विषय करने के कारण अनुमान में अप्रमाणता क्यों नहीं है। इसका उत्तर बौद्ध इस प्रकार देते हैं कि अनुमान-बुद्धि परम्परा से वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्ति का कारण होती है। अतः उसमें अप्रमाणता का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है। वह इस प्रकार है कि अनुमान में विकल्पबुद्धि के द्वारा पहले धूम-सामान्य का ग्रहण होता है, फिर धूम-सामान्य से अग्नि-सामान्य का ग्रहण होता है। इसके पश्चात् धूम-स्वलक्षण का और धूम-स्वलक्षण से अग्नि-स्वलक्षण का ग्रहण होता है। अतः परम्परा से वस्तु की प्राप्ति में कारण होने से अनुमान में प्रमाणता है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि बौद्धों ने अनुमान-बुद्धि को जो परम्परा से वस्तु-व्यवस्था का कारण माना है, वह नहीं बन सकता है। क्योंकि जब धर्मी की सत्ता अवास्तविक है, तब साध्य और साधन में भी अवास्तविकता की प्राप्ति होगी। अर्थात् साध्य और साधन का आधार ही जब अवास्तविक है तब आधेयभूत साध्य और साधन वास्तविक कैसे हो सकते हैं? इसलिए चाहे धर्मी की व्यवस्था विकल्प से हो, या अन्य किसी प्रमाण से हो, वह धर्मी तभी कहा जा सकता है, जब उसकी सत्ता वास्तविक मानी जाय। धर्मी की सत्ता वास्तविक मानने पर ही वह विकल्प-बुद्धि या अन्य किसी प्रमाण का विषय हो सकता है और तभी उसके द्वारा उसकी व्यवस्था हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार यह बात स्थित हुई कि धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि कहीं पर विकल्प से, कहीं पर

प्रमाण से तथा कहीं पर प्रमाण और विकल्प दोनों से होती है। इसलिए यह कोई एकान्त नहीं है कि केवल विकल्प से गृहीत अथवा प्रमाण से प्रसिद्ध पदार्थ के ही धर्मीपना हो।

सरल व्याख्या—प्र=प्रमाण+सिद्ध=प्रसिद्ध धर्मी कहलाता है।

यहाँ पर भाट्ट कहते हैं कि धर्मी की विकल्प से प्रतिपत्ति मानने पर उसमें साध्य क्या होगा है ? ऐसी आशंका के होने पर आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥२४॥

अन्वयार्थ–(तस्मिन् विकल्पसिद्धे) उस विकल्पसिद्ध धर्मी में **(सत्तेतरे)** सत्ता और इतर–असत्ता **(साध्ये)** दोनों साध्य हैं।

सूत्रार्थ—उस विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं।

संस्कृतार्थ—तस्मिन् धर्मिणि विकल्पसिद्धे सति अस्तित्वं नास्तित्वं चेत्युभे साध्ये भवतः।

टीकार्थ—उस धर्मी के विकल्प सिद्ध होने पर सत्ता (सद्भाव–मौजूदगी) और असत्ता (असद्भाव–गैरमौजूदगी) दोनों साध्य होते हैं।

विशेषार्थ—जिस पक्ष का न तो किसी प्रमाण से अस्तित्व सिद्ध हो और न नास्तित्व सिद्ध हो उस पक्ष को विकल्पसिद्ध कहते हैं। उस विकल्पसिद्ध धर्मी में सत्ता और उसकी अपेक्षा इतर जो असत्ता ये दोनों ही साध्य हैं। सुनिश्चित-असम्भव-बाधक प्रमाण के बल से तो सत्ता सिद्ध है और योग्य की अनुपलब्धि के बल से असत्ता साध्य है, इतना वाक्य शेष है अर्थात् सूत्र में नहीं कहा, सो ऊपर से लेना चाहिए।

सरल व्याख्या—धर्मी के दूसरे भेद का नाम विकल्प सिद्ध धर्मी है यह दो प्रकार का होता है। १. एक विकल्प सिद्ध धर्मी में सत्ता साध्य होती है।२. दूसरे विकल्प सिद्ध धर्मी में असत्ता साध्य होती है। सत्ता अर्थात् किसी पदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि करना। असत्ता अर्थात् नास्तित्व की सिद्धि करना।

अब आचार्य विकल्प-सिद्ध-धर्मी का उदाहरण देते हैं–

अस्ति सर्वज्ञो, नास्ति खरविषाणम् ॥२५॥

अन्वयार्थ–(सर्वज्ञः) सर्वज्ञ **(अस्ति)** है **(खरविषाणम्)** खर-विषाण **(नास्ति)** नहीं है।

सूत्रार्थ–सर्वज्ञ है, खर-विषाण (गधे के सींग) नहीं है।

संस्कृतार्थ–सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितबाधकप्रमाणासम्भवात्। खर-विषाणं नास्ति अनुपलब्धेः।

टीकार्थ–सर्वज्ञ है अर्थात् उसकी सत्ता है यह बात सुनिश्चित-बाधकप्रमाण के असंभव होने से सिद्ध होती है और खर-विषाण नहीं है अर्थात् उनकी असत्ता है यह बात उनकी अनुपलब्धि से सिद्ध होती है।

विशेषार्थ–सर्वज्ञ है, यहाँ सर्वज्ञ विकल्पसिद्ध धर्मी है और उसका कोई सुनिश्चित-बाधक-प्रमाण नहीं पाया जाता, इस हेतु से उसकी सत्ता सिद्ध की जाती है। इसी प्रकार खर-विषाण नही है, यहाँ पर खर-विषाण भी विकल्पसिद्ध धर्मी है और वह प्राप्त होने के योग्य होकर भी पाया नहीं जाता, इस हेतु से उसकी असत्ता सिद्ध की जाती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विकल्पसिद्धधर्मी में सत्ता और असत्ता दोनों साध्य हैं। **विकल्पसिद्ध धर्मी के कितने रूप हो सकते हैं** ? विकल्पसिद्ध धर्मी के दो रूप हो सकते हैं। सत्तारूप भी और असत्ता रूप भी। **इसका उदाहरण क्या है** ? सर्वज्ञ है ऐसे प्रतिज्ञा रूप वाक्य में सत्ता साध्य है। गधे के सींग नहीं हैं ऐसे प्रतिज्ञा रूप वाक्य में असत्ता साध्य है। **पक्ष या धर्मी किसे कहते हैं** ? जिसमें साध्य रहता है, उसे पक्ष या धर्मी कहते हैं।

सरल व्याख्या–विकल्पसिद्ध धर्मी के दो रूप हो सकते हैं-

१. सत्ता रूप, २. असत्तारूप। सर्वज्ञ है, यह सत्ता रूप साध्य का उदाहरण है। गधे के सींग नहीं है, यह असत्ता रूप विकल्पसिद्ध धर्मी का उदाहरण है।

अब प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी में साध्य क्या है ? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं–

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥२६॥

अन्वयार्थ–(प्रमाणोभयसिद्धे) प्रमाणसिद्धधर्मी और प्रमाणविकल्प –सिद्धधर्मी में **(साध्यधर्म-विशिष्टता)** साध्य धर्म से विशिष्टता अर्थात् संयुक्तता साध्य होती है।

सूत्रार्थ–प्रमाणसिद्धधर्मी में और प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी में धर्मसहित धर्मी साध्य होता है।

संस्कृतार्थ–प्रमाणसिद्धे उभयसिद्धे वा धर्मिणि साध्यधर्मविशिष्टतैव साध्यः भवति।

टीकार्थ–प्रमाणसिद्धधर्मी में और प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी में साध्यधर्म से विशिष्टता ही साध्य होती है अर्थात् धर्म सहित धर्मी साध्य होता है।

विशेषार्थ–प्रमाण से जानी गई वस्तु (पर्वतादि) विशिष्टधर्म का आधार होने से विवाद का विषय हो जाती है, अतः वह साध्यपने का उल्लंघन नहीं करती है अर्थात् साध्य की कोटि में आ जाती है। इसी प्रकार उभयसिद्ध में भी योजना करना चाहिए।

सरल व्याख्या–जो प्रमाण और विकल्प सिद्ध दोनों प्रकार का धर्मी होता है वह उभयसिद्ध धर्मी कहलाता है।

प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध दोनों धर्मियों के दृष्टान्त को क्रम से दिखलाते हुए कहते हैं–

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥२७॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(अयम्)** यह **(देशः)** प्रदेश **(अग्निमान्)** अग्निवाला है **(इति)** इस प्रकार **(शब्दः)** शब्द **(परिणामी)** परिणाम वाला है।

सूत्रार्थ–जैसे यह प्रदेश अग्निवाला है और शब्द परिणामी है।

संस्कृतार्थ–अग्निमानयं प्रदेशः धूमवत्वात् इति प्रमाणसिद्धधर्मिणः उदाहरणम्। यतः पर्वतादिप्रदेशाः प्रत्यक्षादिप्रमाणैः सिद्धाः विद्यन्ते। तथा च शब्द परिणामी कृतकत्वात् इति प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मिणः उदाहरणम्। यतः

अत्र धर्मी शब्दः उभयसिद्धो विद्यते। स हि वर्तमानकालिकः प्रत्यक्षगम्यः भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यो वर्तते।

टीकार्थ—यह प्रदेश अग्निवाला है, धूमवाला होने से, इस प्रकार प्रमाण सिद्ध धर्मी का उदाहरण है, क्योंकि पर्वतादि प्रदेश प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध होते हैं और उसी प्रकार शब्द परिणामी—परिणमनशील हैं, किया जाने वाला होने से (कृतक होने से) इस प्रकार यह प्रमाण-विकल्प-सिद्ध- धर्मी का उदाहरण है क्योंकि इसमें धर्मी शब्द उभय (प्रमाण और विकल्प) सिद्ध है क्योंकि वही शब्द (पक्ष) वर्तमानकाल वाला तो प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है और भूत तथा भविष्यत् शब्द विकल्पसिद्ध हैं।

सरल व्याख्या—यह प्रदेश अग्निवाला है, यह **प्रमाणसिद्ध धर्मी** का उदाहरण है। शब्द परिणामी है, यह **उभयसिद्ध धर्मी** का उदाहरण है।

अनुमान-प्रयोगकाल की अपेक्षा से धर्मविशिष्ट धर्मी के साध्यपने का कथन करके अब आचार्य व्याप्तिकाल की अपेक्षा से साध्य के नियम को दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥२८॥

अन्वयार्थ—(व्याप्तौ) व्याप्तिकाल में **(तु)** तो **(धर्मः)** धर्म **(एव)** ही **(साध्यं)** साध्य है।

सूत्रार्थ—व्याप्तिकाल में तो धर्म ही साध्य होता है।

संस्कृतार्थ—व्याप्तिकालापेक्षया साध्यं धर्मः एव भवति, न तु साध्य विशिष्टो धर्मीति भावः।

टीकार्थ—व्याप्तिकाल की अपेक्षा से धर्म ही साध्य होता है, परन्तु धर्मविशिष्ट धर्मी नहीं।

विशेषार्थ—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार की व्याप्तिकाल के समय अग्निरूप धर्म ही साध्य होता है, धर्मविशिष्ट धर्मी अर्थात् अग्नि से सहित पर्वत साध्य नहीं होता।

सरल व्याख्या—व्याप्ति काल में धर्म का साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध बनाकर ही व्याप्ति घटित होती है, धर्मी के साथ नहीं। धुँए को

देखकर अग्नि की ही व्याप्ति हम लगा सकते हैं न कि पर्वत की। ''जहाँ धुँआ है वहाँ अग्नि है'', यह व्याप्ति तो बन जाती है किन्तु कोई यह कहे कि ''जहाँ धूम है वहाँ पर्वत है'', यह तो सम्भव नहीं है। इसी अन्तर को इस सूत्र से समझाया है कि व्याप्ति के समय साध्य धर्म होता है जैसे धुँए का साध्य अग्नि धर्म है न कि पर्वत रूप धर्म।

यदि धर्मी को भी साध्य माना जावे तो क्या दोष है ? आचार्य इस शङ्का का समाधान करते हैं–

अन्यथा तदघटनात् ॥२९॥

अन्वयार्थ–(अन्यथा) अन्यथा **(तत्)** वह व्याप्ति **(अघटनात्)** घटित नहीं होने से दोष आता है।

सूत्रार्थ–अन्यथा व्याप्ति घटित नहीं हो सकती।

संस्कृतार्थ–व्याप्तिकालेऽपि धर्मिणः साध्यत्वे धर्मिसाधनयोः व्याप्त्य-घटनात्।

टीकार्थ–व्याप्तिकाल में भी धर्मी को साध्य करने पर धर्मी और साधन की व्याप्ति नहीं बन सकेगी।

विशेषार्थ–यहाँ अन्यथा शब्द ऊपर कहे गये अर्थ के विपरीत अर्थ में दिया गया है। अर्थात् यदि व्याप्तिकाल के समय धर्म को साध्य न बनाकर धर्मी को साध्य बनाया जावे तो व्याप्ति बन नहीं सकती, यह हेतु जानना चाहिए। इसका कारण यह है कि जहाँ-जहाँ धूम दिखाई दे, वहाँ सभी स्थानों पर अग्निवाला पर्वत ही हो, ऐसी व्याप्ति नहीं की जा सकती है, क्योंकि ऐसा मानने में प्रमाण से विरोध आता है। क्योंकि कहीं पर्वत रहेगा, कहीं रसोईघर रहेगा और कहीं तेल का मिल रहेगा, इसलिए व्याप्तिकाल में धर्मविशिष्ट धर्मी (पक्ष) साध्य नहीं हो सकता।

सरल व्याख्या–अन्यथा शब्द का अर्थ है कि अर्थ के विपरीत व्याप्ति बनाना। तात्पर्य यह है यदि व्याप्ति के समय धर्म की जगह धर्मी को साध्य बनाया जायेगा तो व्याप्ति घटित नहीं हो सकती, इसका समाधान पिछले सूत्र में कर दिया है। यहाँ पर व्याप्ति का प्रकरण पूर्ण हुआ।

यहाँ बौद्धों का कहना है कि अनुमान में पक्ष का प्रयोग करना असम्भव है, इसलिए 'प्रसिद्धो धर्मी' इत्यादि वचन कहना अयुक्त है। पक्ष तो हेतु की सामर्थ्य से ही जाना जाता है, फिर यदि पक्ष का कथन करते हैं, तो पुनरुक्त दोष का प्रसङ्ग आता है, क्योंकि अर्थ से प्राप्त होने वाले पदार्थ के पुनः कहने को ***पुनरुक्त*** *दोष कहते हैं, ऐसा कहा गया है। आचार्य पक्ष के प्रयोग करने की आवश्यकता बतलाते हुए सूत्र कहते हैं–*

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३०॥

अन्वयार्थ–(साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय) साध्य रूप धर्म के आधार के विषय में संशय को दूर करने के लिए **(गम्यमानस्य पक्षस्य)** गम्यमान–स्वतः सिद्ध पक्ष का **(अपि)** भी **(वचनम्)** वचन प्रयोग किया जाता है।

सूत्रार्थ–साध्य धर्म के आधार में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करने के लिए गम्यमान/स्वतः सिद्ध पक्ष का भी प्रयोग किया जाता है।

संस्कृतार्थ–साध्यरूपधर्माधिकरणसमुत्थसंशयनिवारणाय स्वयं सिद्ध-स्यापि पक्षस्य प्रयोगः आवश्यकः।

टीकार्थ–साध्यरूप धर्म के आधार के विषय में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करने के लिए स्वयं सिद्ध पक्ष का भी प्रयोग आवश्यक है।

विशेषार्थ–हेतु की सामर्थ्य से ज्ञात होने वाले पक्ष का प्रयोग आवश्यक क्यों है? साध्य बिना आश्रय के रह नहीं सकता इसलिए साध्य के बोलने से ही पक्ष सिद्ध हो जावेगा फिर पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। उस शङ्का का उत्तर इस सूत्र के द्वारा दिया गया है कि–यद्यपि उस पक्ष में सन्देह दूर करने के लिए स्वयं सिद्ध भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है। जैसे–'अग्निमत्त्व' साध्य की सिद्धि करते समय पर्वत, रसोईघर या तेल का कारखाना आदि जगह में उसके रहने का सन्देह होता है, क्योंकि उक्त तीनों जगह 'अग्निमत्त्व' साध्य वास्तव में कहाँ साधना है इसका निश्चय करने के लिए ही पक्ष का प्रयोग अर्थात् उच्चारण होता है।

सरल व्याख्या—साध्य धर्म [अग्नि] के आधार में संदेह [पर्वत है या रसोई घर] को दूर करने के लिए स्वतः सिद्ध पक्ष का भी प्रयोग किया जाता है।

बौद्ध लोग अनुमान में पक्ष का प्रयोग नहीं करते हैं, इसी बात का खंडन करने के लिए यहाँ अनुमान प्रमाण में पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता दर्शायी है। व्याप्ति ज्ञान में पक्ष की आवश्यकता भले ही न हो किन्तु अनुमान में पक्ष बताना भी आवश्यक होता है, अन्यथा यह संदेह होता है कि वह साध्य कहाँ रहता है। जैसे—वह अग्नि किसी पर्वत पर है या रसोई घर में या किसी अन्य स्थान पर।

यदि हम पक्ष को छोड़ देते हैं तो हमें केवल धूम और अग्नि के बीच का सम्बन्ध ज्ञात होता है उस अग्नि का आधार नहीं।

पक्ष के प्रयोग करने की आवश्यकता का दृष्टान्त—

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(साध्यधर्मिणि) साध्य से युक्त धर्मी में **(साधनधर्माव-बोधनाय)** साधनधर्म के ज्ञान कराने के लिए **(पक्षधर्मोपसंहारवत्)** पक्षधर्म के उपसंहार के समान।

सूत्रार्थ—जैसे साध्य से युक्त धर्मी में साधनधर्म का ज्ञान कराने के लिए पक्ष धर्म के उपसंहाररूप उपनय का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृतार्थ—साध्यव्याप्तसाधनप्रदर्शनेन तदाधारावगतावपि नियत-धर्मिसम्बन्धिता प्रदर्शनार्थं यथोपनयः प्रयुज्यते तथा साध्यस्य विशिष्टधर्मि-सम्बन्धितावबोधनार्थं पक्षोऽपि प्रयोक्तव्यः।

टीकार्थ—साध्य के साथ व्याप्त साधन के प्रदर्शन से उसके आधार के अवगत हो जाने पर भी नियत धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य का विशिष्टधर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए पक्ष का वचन भी आवश्यक है।

विशेषार्थ—साध्य जो अग्निमत्त्व धर्म उससे विशिष्ट (संयुक्त) जो धर्मी पर्वतादिक उसमें साधनधर्म के ज्ञान करने के लिए पक्षधर्म के उपसंहार

के समान–पक्षधर्म जो हेतु उसके उपसंहार को उपनय कहते हैं–उसके समान। सूत्र का यह अर्थ है कि साध्य के साथ व्याप्ति रखने वाले साधन के दिखलाने से उसके आधार के अवगत हो जाने पर भी नियत धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए जैसे उपनय का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार से साध्य का विशिष्ट धर्मी के साथ सम्बन्धपना बतलाने के लिए पक्ष का वचन भी आवश्यक है।

इस स्थान में अग्नि है क्योंकि धूम है। जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होती है जैसे रसोईघर। इस प्रकार साध्य (अग्नि) के साथ व्याप्ति रखने वाले, साधन (धूम) को दिखाने से ही, उन (साध्य-साधन) का आधार (पक्ष) मालूम हो जाता है। क्योंकि वे बिना आधार के रह नहीं सकते। ऐसी हालत में आगे जाकर ''जैसा रसोईघर धूमवाला है उसी तरह पर्वत भी धूमवाला है'' यह उपनय (पक्ष में दुबारा धूम का प्रदर्शन) इसीलिए प्रयुक्त किया जाता है कि निश्चित पक्ष में साधन मालूम हो जावे। इसीलिए इसी प्रकार स्वतः सिद्ध होने पर भी पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

सरल व्याख्या–चूँकि यह न्याय ग्रंथ है इसलिए उदाहरण भी न्याय का ही दिया गया है।

साध्यधर्मिणि इस शब्द का अर्थ साध्य से युक्त धर्मी अर्थात् पक्ष है आगे भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होगा। जैसे सूत्र ३८ एवं ४०।

जैसे उपनय के प्रयोग में हेतु के उपसंहार के साथ हेतु का अपने निश्चित धर्मी के साथ सम्बन्ध दिखलाया जाता है उसी प्रकार साध्य का विशिष्ट धर्मी [पक्ष] के साथ संबंध बनाने के लिए पक्ष को भी कहा जाता है।

पक्ष के प्रयोग की आवश्यकता की पुष्टि–

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३२॥

अन्वयार्थ–(वा) अथवा **(कः)** कौन है जो **(त्रिधा)** तीन प्रकार के **(हेतुम्)** हेतु को **(उक्त्वा)** कह करके **(समर्थयमानः)** समर्थन करता हुआ **(पक्षयति)** पक्ष का प्रयोग **(न)** न करे।

सूत्रार्थ—ऐसा कौन है जो कि तीन प्रकार के हेतु को कह करके उसका समर्थन करता हुआ भी पक्षप्रयोग न करे।

संस्कृतार्थ—को वा वादि प्रतिवादी त्रिविधं हेतुं स्वीकृत्य तत्समर्थनं च कुर्वाणः पक्षवचनं न स्वीकरोति? अपितु स्वीकरोत्येव।

टीकार्थ—ऐसा कौन वादी या प्रतिवादी पुरुष है, (लौकिक या परीक्षक) यह 'कः' शब्द का अर्थ है 'वा' शब्द निश्चय के अर्थ में है। जो तीन प्रकार के हेतु को स्वीकार करके उसका समर्थन करता हुआ उस पक्षवचन को नहीं मानता? अर्थात् युक्ति से पक्ष का प्रयोग अवश्यम्भावी होने पर कौन ऐसा वादी या प्रतिवादी है, जो पक्ष का प्रयोग न करे अपितु सभी स्वीकार करते ही हैं। क्या करके ? हेतु को कहके अर्थात् हेतु को बिना कहे नहीं। हेतु के असिद्ध आदि दोषों का परिहार कर अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के निरूपण करने में प्रवीण वचन को समर्थन कहते हैं। यह समर्थन हेतु प्रयोग के उत्तरकाल में बौद्धों ने स्वयं अंगीकार किया है, इसलिए सूत्र में 'उक्त्वा' यह पद कहा है।

विशेषार्थ—यहाँ हेतु से तीन प्रकार स्वभावहेतु, कार्यहेतु और अनुपलब्धिहेतु लेना अथवा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति लेना। जिस प्रकार बिना कहे हेतु का समर्थन नही हो सकता, उसी प्रकार पक्ष के प्रयोग बिना साध्य के आधार का भी निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।

सरल व्याख्या—बौद्धों ने तीन प्रकार के हेतु माने हैं–१. कार्य हेतु, २. स्वभाव हेतु ३. अनुपलम्भ हेतु अथवा पक्ष वृत्ति, सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति।

बौद्ध लोग अपने इन हेतुओं को निर्दोष सिद्ध करके पुनः उसका समर्थन प्रयोग के बाद करते हैं। यह भी उनका समर्थन एक तरह से पक्ष का समर्थन करना ही है। इस तरह ३०,३१, ३२ इन तीन सूत्रों में अनुमान प्रयोग के काल में पक्ष की आवश्यकता पर जोर डाला गया है।

अब यहाँ पर सांख्य कहते हैं कि अच्छा पक्ष का प्रयोग करना मान लिया जाये, तथापि अनुमान के दो अवयव (अंग) नहीं, किन्तु पक्ष, हेतु और दृष्टान्त (उदाहरण) के भेद से तीन अवयव अनुमान के मानना चाहिए। मीमांसक कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय के भेद से अनुमान के चार अवयव मानना चाहिए। यौग कहते हैं कि प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के भेद से पाँच अवयव अनुमान के मानना चाहिए। आचार्य इन सबके मतों का निराकरण करते हुए स्वमत-सिद्ध प्रतिज्ञा और हेतु के दो अवयव ही दिखलाते हुए उत्तर सूत्र कहते हैं-

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३३॥

अन्वयार्थ–(एतत्) ये **(द्वयम्)** दोनों–पक्ष और हेतु **(एव)** ही **(अनुमानाङ्गं)** अनुमान के अंग हैं **(उदाहरणम्)** उदाहरण **(न)** नहीं है।

सूत्रार्थ–ये दोनों ही अर्थात् पक्ष और हेतु अनुमान के अंग हैं, उदाहरण नहीं।

संस्कृतार्थ–पक्ष, हेतुश्चेति द्वितयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणादिकम्।

टीकार्थ–पक्ष और हेतु इस प्रकार दो ही अनुमान के अंग हैं। उदाहरण आदि नहीं।

विशेषार्थ–सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद के द्वारा सांख्य, मीमांसक और यौग मतावलम्बियों की अनुमान के अंग सम्बन्धी मान्यताओं का निराकरण किया गया है।

सरल व्याख्या–पक्ष और हेतु अनुमान के अंग हैं, उदाहरण नहीं इतने पर भी लोग उदाहरण का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, आचार्य उससे पूछते हैं कि क्या साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है अथवा साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव सम्बन्ध बतलाने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है अथवा व्याप्ति का स्मरण करने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है? इन तीन प्रकार के विकल्पों को उठाकर आचार्य क्रम से दूषण देते हुए उदाहरण को अनुमान का अंग न होने में कारण बताते हुए पहला विकल्प ''साध्य का ज्ञान कराने के लिए

भी उदाहरण के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है'' इसके लिए सूत्र कहते हैं–

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं) वह उदाहरण साध्य के ज्ञान में कारण **(न)** नहीं है **(हि)** क्योंकि **(तत्र)** वहाँ साध्य के ज्ञान में **(यथोक्त)** जैसा कहा गया है वैसा अविनाभाव सम्बन्ध रूप **(एव)** ही **(हेतोः)** हेतु का **(व्यापारात्)** व्यापार/प्रवृत्ति है।

सूत्रार्थ–वह उदाहरण साध्य का ज्ञान कराने के लिए कारण नहीं है, क्योंकि साध्य के ज्ञान में निर्दोष–साध्य का अविनाभावरूप से निश्चित हेतु ही कारण होता है।

संस्कृतार्थ–साध्यं प्रज्ञापनार्थम् उदाहरणप्रयोगः समीचीन इति चेन्न साध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य हेतोरेव साध्यज्ञानजनकत्वसामर्थ्यात्।

टीकार्थ–साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग समीचीन है इस प्रकार कहते हैं तो ठीक नहीं है क्योंकि साध्य का अविनाभावी होने से निर्दोष हेतु ही साध्य के ज्ञान कराने में समर्थ है।

सरल व्याख्या–यहाँ पर आचार्य महाराज स्वयं उन लोगों से पूछते हैं जो उदाहरण का प्रयोग आवश्यक मानते हैं कि क्या आप लोग उदाहरण की आवश्यकता साध्य का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक मानते हैं तो उसी का उत्तर देते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि साध्य का ज्ञान तो यथोक्त हेतु के कहने से ही हो जाता है।

यथोक्त अर्थात् यथा+उक्त जैसा पहले कहा है अर्थात् सूत्र ११ में साध्य के साथ जिसका अविनाभाव संबंध है उसे हेतु कहा है। उसी हेतु के व्यापार [प्रयोग] से साध्य का ज्ञान हो जाता है, इसलिए साध्य का ज्ञान कराने के लिए उदाहरण का प्रयोग अनावश्यक है, यह सिद्ध हुआ।

जब हम रसोईघर में अग्नि की सिद्धि करने के लिए यह व्याप्ति बनाते है कि ''जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है'' तो यह सम्बन्ध ही उस अग्नि को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होता है और उस धुएँ से वह अग्नि सिद्ध हो जाती है उसमें उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं रहती इसलिए साध्य

की सिद्धि के लिए अनुमान ज्ञान में उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब आचार्य दूसरा विकल्प ''साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव निश्चित कराने के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है'' इस बात के प्रदर्शन के लिए सूत्र कहते हैं–

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकप्रमाणबलादेव तत्सिद्धेः ॥३५॥

अन्वयार्थ–(तदविनाभावनिश्चयार्थं) वह उदाहरण अविनाभाव के निश्चय के लिए भी कारण नहीं है **(वा)** क्योंकि **(विपक्षे)** विपक्ष में **(बाधकप्रमाणबलात्)** बाधकप्रमाण के बल से **(एव)** ही **(तत्)** वह अविनाभाव **(सिद्धेः)** सिद्ध हो जाता है।

सूत्रार्थ–वह उदाहरण अविनाभाव के निश्चय के लिए भी कारण नहीं है क्योंकि विपक्ष में बाधकप्रमाण से ही अविनाभाव सिद्ध हो जाता है।

संस्कृतार्थ–साध्येन सह हेतोरविनाभावनिश्चयार्थमुदाहरणप्रयोगः आवश्यक इति चेन्न विपक्षे बाधकप्रमाणबलादेव तदविनाभावनिश्चयसिद्धेः।

टीकार्थ–कोई कहता है कि साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव निश्चय करने के लिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रकार कहना ठीक नहीं है क्योंकि विपक्ष में बाधकप्रमाण के बल से ही साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव निश्चित हो जाता है।

विशेषार्थ–किसी का कहना है कि उदाहरण के प्रयोग बिना साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव ही निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए उदाहरण का प्रयोग आवश्यक है। इस सूत्र के द्वारा इसी मान्यता का खण्डन किया गया है। साध्य के सजातीय धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं। और साध्य से विजातीय धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे पर्वत में अग्नि सिद्ध करते समय रसोईघर सपक्ष होता है और तालाब विपक्ष होता है, क्योंकि इसमें साध्य (अग्नि) से विजातीय धर्म (जल) है। धूमहेतु का अग्निसाध्य के साथ अविनाभाव इस प्रकार सिद्ध होता है कि तालाब में अग्नि के अभाव में धूम नहीं पाया जाता है। यदि पाया जाये तो धूम और अग्नि के

कार्यकारणभाव का भंगरूप बाधकप्रमाण उपस्थित होगा। विपक्ष में ऐसे ही बाधकप्रमाण मिलते हैं जिनसे साध्य के साथ साधन का अविनाभाव निर्णीत हो जाता है। इसलिए उदाहरण के प्रयोग की आवश्यकता नहीं। **उदाहरण कैसा होता है**? उदाहरण एक व्यक्ति रूप होता है, वह सर्वदेश, सर्वकालवर्ती व्याप्ति का ज्ञान कैसे करा सकता है। **अविनाभाव का निश्चय कराने के लिए यदि उदाहरण का प्रयोग किया जाये तो क्या दोष आयेगा** ? अनवस्था दोष प्राप्त होगा, अन्य व्यक्तियों में व्याप्ति के ज्ञान कराने के लिए अन्य उदाहरण भी व्यक्ति रूप होगा। अतः सर्वदेश काल के उपसंहार से वह भी व्याप्ति का निश्चय कराने के लिए अशक्य होगा। इस प्रकार अन्य-अन्य उदाहरणों की अपेक्षा करने पर अनवस्था दोष प्राप्त होगा। अतः अविनाभाव के निश्चय के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है।

सरल व्याख्या—आचार्य यहाँ पर दूसरा विकल्प उठाते हुए पूछते हैं कि क्या आप लोग उदाहरण का प्रयोग हेतु का अविनाभाव सम्बन्ध बताने के लिए करते हैं। यदि ऐसा है तो भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह उदाहरण उस साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय नहीं करा पाता है। अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय तो विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से ही सिद्ध हो जाता है।

जिसमें अग्नि का अभाव है ऐसे किसी विशाल तालाब आदि को यहाँ विपक्ष समझना। उस तालाब में धुएँ रूप हेतु का नहीं होना ही बाधक का सद्भाव है। उस बाधक प्रमाण के सद्भाव से ही तालाब आदि में अग्नि नहीं है इस बात की सिद्धि हो जाती है। तालाब में अग्नि नहीं है इसकी सिद्धि के लिए किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु अग्नि का बाधक हेतु धुँआ ही उस सिद्धि के लिए पर्याप्त है।

आचार्य भगवन् दूसरे विकल्प का शोधन करते हुए सूत्र कहते हैं—

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥३६॥

अन्वयार्थ—(निदर्शनं) उदाहरण **(व्यक्तिरूपं)** व्यक्तिरूप होता है

(तु) परन्तु **(व्याप्तिः)** व्याप्ति **(सामान्येन)** सामान्यरूप से होती है **(तत्रापि)** उस उदाहरण में भी **(च)** और **(तद्विप्रतिपत्तौ)** उस सामान्य व्याप्ति में विवाद होने पर **(दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्)** दृष्टान्त को अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा होने से **(अनवस्थानम्)** अनवस्था **(स्यात्)** होगी।

सूत्रार्थ—निदर्शन (उदाहरण) व्यक्ति रूप होता है और व्याप्ति सामान्य रूप से सर्वदेश काल की उपसंहार वाली होती है। अतः उस उदाहरण में भी विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की अपेक्षा पड़ने से अनवस्थादोष प्राप्त होगा।

संस्कृतार्थ—दृष्टान्तो विशेषरूपः व्याप्तिश्च सामान्यरूपा भवति। अतः उदाहरणेऽपि सामान्यव्याप्तिविवादे सति तन्निश्चयार्थम् उदाहरणान्तरापेक्षणात् अनवस्थादोषप्रसङ्गो भवेत्।

टीकार्थ—दृष्टान्त विशेष रूप होता है और व्याप्ति सामान्य रूप से होती है। अतः उदाहरण में भी सामान्य व्याप्ति का विवाद होने पर उसका निश्चय कराने के लिए अन्य उदाहरण की अपेक्षा होने से अनवस्थादोष का प्रसङ्ग होता है।

विशेषार्थ—किसी खास व्यक्तिरूप (महानस और पर्वतरूप) तो उदाहरण होता है और सामान्यरूप (सम्पूर्णदेश में, सम्पूर्णकाल में तथा सम्पूर्ण आकारों में रहने वाले साध्य और साधन को ग्रहण करने वाली) व्याप्ति होती है। ऐसी हालत में व्यक्तिरूप दृष्टान्त, सामान्यरूप व्याप्ति को कैसे ग्रहण कर सकता है ? और यदि उस उदाहरण में रहने वाले साध्य वा साधन के विषय में विवाद खड़ा हो जाये तो दृष्टान्त के लिए भी दृष्टान्त की आवश्यकता होगी, जिससे अनवस्था दोष आ जावेगा। अप्रमाणिक अनन्त-पदार्थों की कल्पना में विश्रान्ति नहीं होना अनवस्थादोष कहलाता है। जिस प्रकार एक दृष्टान्त की सचाई के लिए दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता हुई, उसी प्रकार उसकी सच्चाई के लिए तीसरे की और तीसरे की सचाई के लिए चौथे की आवश्यकता होगी, जिससे गगनतल में फैलने वाली बड़ी भारी अनवस्था चली जावेगी अर्थात् कहीं पर अन्त नहीं आयेगा।

सरल व्याख्या—आचार्य यहाँ पर उसी दूसरे विकल्प का समाधान करते हुए कहते हैं कि उदाहरण तो एक व्यक्ति रूप होता है और व्याप्ति सर्वदेश, सर्वकाल में घटित होने वाली होती है। यदि वह उदाहरण एक व्यक्ति में ही व्याप्ति को दिखा रहा है तो फिर अन्य व्यक्तियों में व्याप्ति का ज्ञान कराने के लिए अन्य उदाहरण का प्रयोग करना पड़ेगा, वह अन्य उदाहरण किसी एक व्यक्ति में ही व्याप्ति को बताएगा। फिर अन्य व्यक्ति में व्याप्ति घटित करने के लिए अन्य उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह उदाहरण की आवश्यकता का कभी अंत नहीं होगा। इसी का नाम अनवस्था दोष है।

रसोई में अग्नि को सिद्ध करने के लिए यदि हम रसोई घर का उदाहरण देते हैं तो वह उदाहरण धुँआ और अग्नि के बीच में अविनाभाव सम्बन्ध को स्थापित नहीं कर सकता। यदि हमें रसोई घर के उदाहरण में संशय हुआ तो हमें दूसरे उदाहरण को लाना पड़ेगा और यदि वह उदाहरण भी व्याप्ति के ज्ञान में कारण नहीं हुआ तो अन्य उदाहरण की आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह उदाहरण की अपेक्षा बनी रहने से अनवस्था दोष आयेगा।

अब आचार्य तृतीय विकल्प 'व्याप्ति का स्मरण करने के लिए भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं है' इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं–

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥३७॥

अन्वयार्थ—(तथाविधहेतुप्रयोगात्) उस प्रकार के हेतु के प्रयोग से, साध्य के साथ अविनाभावरूप हेतु के प्रयोग से **(एव)** ही **(तत्स्मृतेः)** उस व्याप्ति का स्मरण हो जाने से **(व्याप्तिस्मरणार्थं)** व्याप्ति का स्मरण करने के लिए **(अपि)** भी **(न)** उदाहरण की आवश्यकता नहीं है ।

सूत्रार्थ—व्याप्ति का स्मरण करने के लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। उसका स्मरण तो साध्य के अविनाभावी हेतु के प्रयोग व्याप्ति से ही हो जाता है।

संस्कृतार्थ—ननु व्याप्तिस्मरणार्थम् उदाहरणप्रयोगस्य समीचीनत्व-मस्त्येवेति चेन्न साध्याविनाभावत्वापन्नस्य हेतोः प्रयोगादेव व्याप्तिस्मरणसंसिद्धेः।

टीकार्थ—कोई कहता है कि व्याप्ति का स्मरण करने के लिए उदाहरण के प्रयोग की समीचीनता है ही इस प्रकार कहना ठीक नहीं, क्योंकि साध्य के अविनाभावीपने को प्राप्त हेतु के प्रयोग से ही व्याप्ति स्मरण की समीचीनता सिद्ध हो जाती है।

विशेषार्थ—जिसने साध्य के साथ साधन का सम्बन्ध ग्रहण किया है। ऐसे पुरुष को हेतु के दिखलाने से ही व्याप्ति सिद्ध हो जाती है और जिसने सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया है, ऐसे व्यक्ति को सैकड़ों दृष्टान्तों से भी स्मरण नहीं होगा, क्योंकि स्मरण तो पहले अनुभव किये हुए पदार्थ का ही होता है। इसलिए व्याप्ति के स्मरणार्थ भी उदाहरण का प्रयोग आवश्यक नहीं।

सरल व्याख्या—आचार्य यहाँ पर तीसरा विकल्प उठाते हुए पूछते हैं कि क्या आप लोग उदाहरण की आवश्यकता व्याप्ति का स्मरण करने के लिए मानते हैं? यदि ऐसा है तो वह भी घटित नहीं होता है क्योंकि निश्चित हेतु के प्रयोग से व्याप्ति का स्मरण हो जाता है।

निश्चित हेतु का प्रयोग किए बिना अविनाभाव सम्बन्ध घटित नहीं होगा। जिससे साध्य का साधन के साथ सम्बन्ध ग्रहण नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सैकड़ों उदाहरण से भी उस व्याप्ति का स्मरण नहीं हो सकता। क्योंकि स्मरण तो पहले बुद्धि में निश्चित किए गए अविनाभाव का ही होता है और वह अविनाभाव सम्बन्ध ''जहाँ धुँआ है वहाँ अग्नि है'', इस व्याप्ति से ही बनता है न कि रसोईघर का उदाहरण देने से।

अब आचार्य, उपनय और निगमन के प्रयोग बिना उदाहरण के प्रयोग से क्या हानि है इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥३८॥

अन्वयार्थ—(साध्यधर्मिणि) साध्यधर्मी में—साध्य विशिष्टधर्मी में **(साध्यसाधने)** साध्य के सिद्ध करने में **(तत्परमभिधीयमानं)** उस उदारहण मात्र का कहा जाना **(संदेहयति)** संदेह करा देता है।

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन के बिना यदि केवल उदाहरण का प्रयोग

किया जायेगा। तो वह साध्य धर्म वाले धर्मी (पक्ष) में साध्य के सिद्ध करने में संदेह करा देता है।

संस्कृतार्थ—केवलं प्रयुज्यमानं तदुदाहरणं साध्यविशिष्टे धर्मिणि साध्य-साधने संदेहवती करोति। दृष्टान्तधर्मिणि साध्यव्याप्तसाधनोपदर्शनेऽपि साध्यधर्मिणि तन्निर्णस्य कर्त्तुमशक्यत्वात्।

टीकार्थ—केवल कहा गया वह उदाहरण साध्यविशिष्ट धर्मी में साध्य के साधने/सिद्ध करने में संदेहवाला कर देता है। दृष्टान्तधर्मी रसोईघर में साध्य से व्याप्त साधन के दिखलाने पर भी पर्वतादि साध्यधर्मी में साध्य से व्याप्त साधन का निर्णय करना संभव नहीं है।

सरल व्याख्या—रसोईघर में धुँआ है इसलिए अग्नि है। इस प्रकार दिखाने पर भी अन्य पर्वत आदि में भी रसोईघर की तरह धुँआ देखने पर भी अग्नि है कि नहीं, यह संदेह बना रहता है। संदेह का कारण यह है कि दूसरे व्यक्ति को यह व्याप्ति नहीं समझाई कि भाई! ''जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है।'' इस प्रकार की व्याप्ति तो साधन के साथ साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध दिखाने से ही बनाते है। न कि केवल रसोईघर का उदाहरण देने से। इसीलिए इस सूत्र में कहा है कि केवल उदाहरण का प्रयोग भी पक्ष में साध्य और साधन के निर्णय में असमर्थ है क्योंकि संदेह उत्पन्न होता है।

इसी अर्थ को व्यतिरेकमुख से समर्थन करते हुए कहते हैं अर्थात् केवल उदाहरण प्रयोग से संदेह होने का स्पष्टीकरण—

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥३९॥

सूत्रान्वय—(अन्यथा) अन्यथा **(उपनयनिगमने)** उपनय और निगमन **(कुतः)** किस कारण से प्रयोग में लाये जाते।

सूत्रार्थ—अन्यथा उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता ?

संस्कृतार्थ—केवलोदाहरणप्रयोगस्य संशयजनकत्वाभावे उपनय निगमन प्रयोगः किमर्थं विधीयते ? अतो निश्चीयते यदुदाहरणमात्र-प्रयोगात्संशयोऽवश्यं जायते।

टीकार्थ—केवल उदाहरण के प्रयोग का, संशय पैदा करने का अभाव होता तो उपनय और निगमन का प्रयोग क्यों किया जाता ? इसलिए इससे निश्चय होता है कि उदाहरण मात्र के प्रयोग से संशय अवश्य होता है।

विशेषार्थ—उदाहरण यदि साध्य विशिष्ट धर्मी में साध्य का साधन करने में संदेह युक्त न करता तो किस कारण उपनय और निगमन का प्रयोग किया जाता।

सरल व्याख्या—अनुमान के अंगों में अंतिम अंग उपनय एवं निगमन होते हैं। उससे पहले दृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है।

उदाहरण का प्रयोग संशय का कारण न बने इसलिए ही उपनय एवं निगमन का प्रयोग किया जाता है।

यह पर्वत धूम वाला है [उपनय] और इसलिए ही इसमें अग्नि है [निगमन]। यह उपनय और निगमन का इस प्रकार प्रयोग उदाहरण के लिए ही करना पड़ता है। पर्वत में अग्नि सिद्ध करने के लिए रसोईघर का उदाहरण दिया। उस उदाहरण में ही साध्य और साधन रहते हैं अन्यत्र नहीं, इस प्रकार का संदेह न हो जाये इसलिए उपनय और निगमन में हेतु और प्रतिज्ञा को दोहराया जाता है। यह बात इस सूत्र में कही गयी है।

यौग कहता है कि उपनय और निगमन अनुमान के अंग हैं, उनका प्रयोग न करने पर असंदिग्ध रूप से साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता है ? उक्त कथन का निषेध करने के लिए अर्थात् उपनय और निगमन को अनुमान का अंग न होने का स्पष्टीकरण करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ॥४०॥

अन्वयार्थ—(साध्यधर्मिणि) साध्यधर्म वाले धर्मी में **(हेतुसाध्ययोः)** हेतु और साध्य के **(वचनात्)** बोलने से **(एव)** ही **(असंशयात्)** संशय नहीं होने से **(ते)** वे—उपनय और निगमन **(तदङ्गे)** उस अनुमान के अंग **(न)** नहीं हैं।

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन अनुमान के अंग नहीं हैं, क्योंकि हेतु और साध्य के बोलने से ही साध्यधर्म वाले धर्मी (पक्ष) में संशय नहीं रहता है।

संस्कृतार्थ—ननूपनयनिगमनयोरप्यनुमानाङ्गत्वमेव, तदप्रयोगे निःसंशय –साध्यसम्वित्तेरयोगादिति चेन्न हेतुसाध्ययोः प्रयोगादेव साध्यधर्मिणि संशयस्य निराकृतत्वात् उपनयनिगमनयोरनुमानाङ्गत्वाभावात्।

टीकार्थ—कोई कहता है उपनय और निगमन के भी अनुमान का अङ्गपना ही है उनके प्रयोग के बिना निःसंशय साध्य के ज्ञान का योग नहीं है। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि हेतु और साध्य के प्रयोग से ही साध्य धर्मी में संशय का निराकरण होने से उपनय और निगमन का अनुमान के अंगपने का अभाव है।

सरल व्याख्या—उपनय और निगमन के स्वरूप का वर्णन आगे करेंगे।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि उपनय और निगमन भी अनुमान प्रयोग के लिए आवश्यक अवयव नहीं है। अर्थात् उपनय और निगमन के प्रयोग के बिना भी हेतु (साधन) और साध्य का सम्बन्ध दिखा देने से धर्मी में संशय दूर हो जाता है।

अनुमान के प्रयोग में केवल हेतु की आवश्यकता और उदाहरण आदि की अनावश्यकता–

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥४१॥

अन्वयार्थ–(वा) क्योंकि **(साध्ये)** साध्य की सिद्धि में **(उपयोगात्)** उपयोग होने से **(समर्थनं)** समर्थन **(वा)** ही **(वरं)** श्रेष्ठ/वास्तविक **(हेतुरूपम्)** हेतु का स्वरूप है और **(तत्)** वह समर्थन **(अनुमानावयवः)** अनुमान का अंग **(अस्तु)** होता है।

सूत्रार्थ—समर्थन ही हेतु का वास्तविक स्वरूप है, अतः वही अनुमान का अवयव माना जाये, क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसी का उपयोग होता है।

संस्कृतार्थ—किञ्च दृष्टान्तादिकमभिधायापि समर्थनमवश्यंकरणीयम समर्थितस्याहेतुत्वादिति। तथा च समर्थनमेव वास्तविकहेतुस्वरूपमनुमाना–वयवो वा भवतु, साध्यसिद्धौ तस्यैवोपयोगान्नोदाहरणादिकस्येति।

टीकार्थ—कोई कहता है दृष्टान्त आदिक को कह करके भी समर्थन अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि जिस हेतु का समर्थन न हुआ हो, वह हेतु ही नहीं हो सकता। इसलिए वह समर्थन ही हेतु का उत्तमरूप है और उसे ही अनुमान का अवयव मानना चाहिए, क्योंकि साध्य की सिद्धि में उसका ही उपयोग है, उदाहरण आदि का नहीं।

विशेषार्थ—हेतु के असिद्धत्व, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषों का परिहार करके अपने साध्य के साधन करने की सामर्थ्य के निरूपण करने में प्रवीण वचन को समर्थन कहते हैं अर्थात् दोषों का अभाव दिखाकर हेतु के पुष्ट करने को साधन कहते हैं।

सरल व्याख्या—आचार्यदेव यहाँ पर बौद्धों का यह कहना स्वीकारते हैं कि–हेतु का समर्थन (दोहराना) अवश्य करना चाहिए। यह समर्थन ही हेतु का वास्तविक रूप है। इसे अनुमान का अवयव मानना चाहिए।

इस सूत्र में एक तरह से आचार्यदेव उपनय (हेतु का समर्थन) को अनुमान का अंग स्वीकार कर रहे हैं।

इसीलिए अगले सूत्र में दृष्टान्त, उपनय, निगमन को भी किसी विवक्षा से अनुमान के अंग स्वीकार करेंगे।

कोई कहता है कि दृष्टान्तादिक के बिना मंदबुद्धि जनों को ज्ञान कराना अशक्य है। अतः पक्ष और हेतु के प्रयोग मात्र से उन्हें साध्य का ज्ञान कैसे हो जायेगा ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं–

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात्
॥४२॥

अन्वयार्थ—**(बालव्युत्पत्त्यर्थं)** मंदबुद्धि वालों को ज्ञान कराने के लिए **(तत्त्रयोपगमे)** उन तीन–उदाहरण, उपनय, निगमन को स्वीकार करने पर तथा **(वादे)** वाद में **(अनुपयोगात्)** उपयोगी न होने से **(शास्त्रे)** शास्त्र में **(एव)** ही **(असौ)** वह उपयोगी हैं वाद में **(न)** नहीं।

सूत्रार्थ—अल्पज्ञानियों को समझाने के लिए उदाहरण, उपनय और

निगमन की स्वीकारता शास्त्र में ही है, वादकाल में नहीं। क्योंकि वाद करने का अधिकार विद्वानों को ही होता है और वे पहले से ही व्युत्पन्न रहते हैं, इसलिए उनको उदाहरणादि का प्रयोग उपयोगी नहीं होता।

संस्कृतार्थ—मंदमतीनां शिष्याणां सम्बोधनार्थमुदाहरणादित्रयप्रयोगाभ्युप-गमेऽपि तत्त्रयप्रयोगो वीतरागकथायामेव ज्ञातव्यो न तु विजिगीषु-कथायाम्। तत्र तस्यानुपयोगात्। न हि वादकाले शिष्याः व्युत्पाद्याः व्युत्पन्नानामेव तत्राधिकारात्।

टीकार्थ—मंदमती वाले शिष्यों को समझाने के लिए उदाहरण, उपनय, निगमन इन तीनों का प्रयोग स्वीकारने पर भी उन तीनों का प्रयोग वीतराग कथा में ही जानना चाहिए परन्तु विजिगीषु कथा में नहीं, क्योंकि विजिगीषु कथा में बालक अनुपयोगी होने से, वाद के समय शिष्यों को समझाया नहीं जाता, क्योंकि वाद में तो व्युत्पन्न पुरुषों का ही अधिकार होता है।

सरल व्याख्या—उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों का प्रयोग शास्त्र के पठन-पाठन में ही किया जाता है क्योंकि मंदबुद्धि वाले जीवों के लिए इन तीनों अवयवों के माध्यम से सिद्धि करके समझाया जाता है। जैसे बच्चों को समझाना पड़ता है कि बच्चे देखो यहाँ धूम है इसलिए अग्नि है बाद में फिर कभी किसी पर्वत आदि में धूम दिखाकर उसे अग्नि का अनुमान करा करके रसोईघर का उदाहरण देकर समझाते हैं कि यहाँ भी धूम है इसलिए यहाँ पर अग्नि है। इस प्रकार ये तीनों अवयव शास्त्र के समय ही काम आते हैं। वाद-विवाद के समय तो शिष्यों को नहीं समझाया जाता।

वाद विवाद के समय अल्पबुद्धि वालों को नहीं समझाया जाता है लेकिन जो पहले से व्युत्पन्न [पंडित] हैं उन्हीं को समझाया जाता है इसलिए वहाँ पर केवल पक्ष और हेतु इन दोनों का ही कथन करना पर्याप्त होता है।

बाल व्युत्पत्ति के लिए उन तीनों को स्वीकार किया गया है अतः शास्त्र में स्वीकृत उन उदाहरणादिक तीनों अवयवों का स्वरूप दिखलाते हुए प्रथम दृष्टान्त/उदाहरण के भेद दिखलाते हैं—

दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥४३॥

अन्वयार्थ—(अन्वयव्यतिरेकभेदात्) अन्वय और व्यतिरेक के भेद से (दृष्टान्तः) दृष्टान्त (द्वेधा) दो प्रकार का होता है।

सूत्रार्थ—दृष्टान्त दो प्रकार का है—अन्वय और व्यतिरेक।

संस्कृतार्थ—दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनलक्षणौ धर्मौ अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा यत्र सः दृष्टान्तः। स हि द्विविधः अन्वयदृष्टान्तो व्यतिरेक-दृष्टान्तश्चेति।

टीकार्थ—जहाँ पर साध्य-साधन लक्षण वाले दोनों धर्म अन्वयमुख से अथवा व्यतिरेकमुख से देखे जावें, वह दृष्टान्त है। वह दो प्रकार का है—

१. अन्वयदृष्टान्त, २. व्यतिरेकदृष्टान्त।

सरल व्याख्या—बाल बुद्धि वालों को समझाने के लिए जो दृष्टान्त, उपनय और निगमन तीन अवयव शास्त्र में उपयोग किये जाते हैं। यहाँ पर क्रमशः इन तीनों का वर्णन किया जायेगा।

अन्वय दृष्टान्त को साधर्म्य दृष्टान्त भी कहते है।

व्यतिरेक दृष्टान्त को वैधर्म्य दृष्टान्त भी कहते है।

अन्वयदृष्टान्त का लक्षण दिखलाते हैं—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥४४॥

अन्वयार्थ—(साध्यव्याप्तं) साध्य से व्याप्त **(साधनम्)** साधन को **(यत्र)** जहाँ **(प्रदर्श्यते)** दिखाया जाता है **(सः)** वह **(अन्वयदृष्टान्तः)** अन्वयदृष्टान्त है।

सूत्रार्थ—साध्य के साथ जहाँ साधन की व्याप्ति दिखलाई जाती है, वह अन्वयदृष्टान्त है।

संस्कृतार्थ—साधनसद्भावे साध्यसद्भावो यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय दृष्टान्तः।

टीकार्थ—साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव जहाँ दिखाया

जाता है वह अन्वयदृष्टान्त है।

विशेषार्थ—अन्वयव्याप्ति दिखाकर जो दृष्टान्त दिया जाता है, उसे अन्वयदृष्टान्त कहते हैं। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है जैसे—रसोईघर। इस प्रकार साधन का सद्भाव दिखाकर साध्य का सद्भाव दिखाना अन्वयदृष्टान्त है।

सरल व्याख्या—जहाँ पर धुँआ है वहाँ पर अग्नि है जैसे कि रसोईघर। इस रसोईघर के दृष्टान्त में साध्य अग्नि है और साधन धुँआ है। चूँकि यहाँ साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया गया है इसलिए यह अन्वय दृष्टान्त है।

व्यतिरेकदृष्टान्त का स्वरूप और लक्षण दिखलाते हैं—

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४५॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जहाँ **(साध्याभावे)** साध्य के अभाव में **(साधना-भावः)** साधन का अभाव **(कथ्यते)** कहा जाता है **(सः)** वह **(व्यतिरेक-दृष्टान्तः)** व्यतिरेकदृष्टान्त है।

सूत्रार्थ—जहाँ पर साध्य के अभाव में साधन का अभाव कहा जावे वह व्यतिरेकदृष्टान्त है।

संस्कृतार्थ—साध्याभावे साधनाभावो यत्र प्रदर्श्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः प्रोच्यते।

टीकार्थ—साध्य के अभाव में साधन का अभाव जहाँ पर दिखलाया जाता है, वह व्यतिरेकदृष्टान्त कहलाता है।

विशेषार्थ—व्यतिरेकव्याप्ति दिखाकर जो दृष्टान्त दिया जाता है उसे व्यतिरेकदृष्टान्त कहते हैं। जहाँ जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ वहाँ धूम नहीं होता जैसे—जलाशय। इस प्रकार साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखलाना व्यतिरेकदृष्टान्त है।

सरल व्याख्या—व्यतिरेक दृष्टान्त में साध्य और साधन का सम्बन्ध नकारात्मक [Negatively] दिखाया जाता है।

व्यतिरेक दृष्टान्त की यह विशेषता होती है कि इसमें साध्य भी नहीं के साथ प्रयुक्त होता है और साधन भी नहीं के साथ प्रयुक्त होता है अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना।

जैसे–जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ पर धुँआ नहीं है, जैसे कि यह पर्वत।

इसलिए यह पर्वत व्यतिरेक दृष्टान्त है।

उपनय का लक्षण एवं स्वरूप दिखलाते हैं–

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥४६॥

अन्वयार्थ–(हेतोः) हेतु का **(उपसंहारः)** उपसंहार–दुहराना **(उपनयः)** उपनय कहलाता है।

सूत्रार्थ–पक्ष में हेतु का उपसंहार–दुहराना उपनय कहलाता है।

संस्कृतार्थ–उपनीयते पुनरुच्यते इत्युपनयः पक्षे हेतोरूपसंहार उपनय इत्यर्थः।

टीकार्थ–''उपनीयते पुनरुच्यते इति उपनयः'' यह व्युत्पत्ति है पक्ष में हेतु के दुहराने को उपनय कहते हैं।

विशेषार्थ–इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि धूम है। फिर कोई एक दृष्टान्त देकर कहा जाता है कि ''उसी तरह इसमें धूम है'' अथवा ''उसी तरह यह धूम वाला है'' यहाँ पहले धूम है कहा था फिर दुबारा कहा कि ''इसमें धूम है'' इसलिए कहा जाता है कि पक्ष में साधन (हेतु) के दुहराने को उपनय कहते हैं।

सरल व्याख्या–अविनाभाव सम्बन्ध का धर्मी में ज्ञान हो जाने के बाद अंत में उसे पुनः दोहराना उपनय है जैसे कि ''उसी प्रकार यह पर्वत धूमवाला है'' यह हेतु का दुहराना कहलाता है।

निगमन का स्वरूप या लक्षण कहते हैं–

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥४७॥

अन्वयार्थ–(तु) दूसरी ओर **(प्रतिज्ञायाः)** प्रतिज्ञा के दुहराने को **(निगमनम्)** निगमन कहते हैं।

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं।

संस्कृतार्थ—पक्षस्य साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनं प्रोच्यते।

टीकार्थ—पक्ष के साध्यधर्म की विशिष्टता के साथ दिखलाना निगमन कहा जाता है।

विशेषार्थ—सूत्र में उपसंहार पद की अनुवृत्ति की गई है प्रतिज्ञा का उपसंहार/दुहराना अर्थात् साध्यधर्म विशिष्टता के साथ कि "धूमवाला होने से यह अग्निवाला है", इस प्रकार प्रतिज्ञा का दुहराना निगमन है।

सरल व्याख्या—पक्ष को ही प्रतिज्ञा कहते हैं। जिसे हमने प्रारंभ में सिद्ध करना चाहा था।

जैसे गणित में प्रतिज्ञा की जाती है "To prove that" फिर अंत में conclusion निष्कर्ष लिखा जाता है। उसी प्रकार से न्याय में अनुमान से सिद्धि होने के बाद उपनय कहकर प्रतिज्ञा को दोहराना निगमन कहलाता है जैसे कि "इसलिए यह पर्वत भी अग्निवाला है।"

यहाँ तक प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन पाँचों अनुमान के अंगों का वर्णन पूरा हुआ।

इस प्रकार मतभेद की अपेक्षा दो, तीन और पाँच अवयव रूप जो अनुमान है वह दो प्रकार का ही है यह दिखलाते हुए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं—

तदनुमानं द्वेधा ॥४८॥

अन्वयार्थ—(तत्) वह **(अनुमानं)** अनुमान **(द्वेधा)** दो प्रकार का।

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकार का है।

संस्कृतार्थ—अनुमानं द्विविधम्।

टीकार्थ—वह अनुमान दो प्रकार का है।

अब आचार्य भगवन् अनुमान के उन दोनों भेदों को बतलाते हैं—

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥४९॥

अन्वयार्थ—(स्वार्थपरार्थभेदात्) स्वार्थ और परार्थ के भेद से।

सूत्रार्थ—स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान के दो भेद हैं।

संस्कृतार्थ—स्वार्थानुमानं, परार्थानुमानं चेत्यनुमानस्य द्वौ भेदौ स्तः।

टीकार्थ—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इस प्रकार अनुमान के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—स्व और पर के विवाद का निराकरण करना ही दोनों प्रकार के अनुमानों का फल है अर्थात् स्वविषयक विवाद का निराकरण करना स्वार्थनुमान है और परविषयक विवाद का निराकरण करना परार्थानुमान का फल है।

अब स्वार्थानुमान का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य सूत्र कहते हैं–

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५०॥

अन्वयार्थ—**(स्वार्थं)** स्वार्थानुमान **(उक्त)** कह दिये गये **(लक्षणम्)** लक्षण वाला है।

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान का लक्षण इसी समुद्देश के सूत्र ''साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं ॥१०॥'' में कहा जा चुका है।

संस्कृतार्थ—परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात् धूमादिसाधनात् पर्वतादौ धर्मिणि वह्नयादेः साध्यस्य यद् विज्ञानं जायते तत्स्वार्थानुमानं निगद्यते।

टीकार्थ—पर के उपदेश की अपेक्षा से रहित स्वयं ही निश्चित होने से धूमादि साधन से पर्वत आदि धर्मी में अग्नि आदि साध्य का जो विशेष ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान कहा जाता है।

विशेषार्थ—दूसरे के उपदेश के बिना स्वतः ही साधन से साध्य का जो अपने लिए ज्ञान होता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

सरल व्याख्या—''साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं'' तीसरे अध्याय के १० वे सूत्र में जो अनुमान का लक्षण पहले कहा था। वही स्वार्थ अनुमान का लक्षण है।

यह स्वार्थ अनुमान दूसरे के उपदेश बिना स्वतः ही होता है।

जैसे पहले कभी किसी ने रसोई घर में अग्नि देखी और धुँआ भी देखा

बाद में उसे किसी अन्य पर्वत आदि पर धुँआ देखकर स्वयं ही पूर्व में देखे गये धुँए एवं अग्नि के सम्बन्ध से वह जान लेता है कि इस पर्वत पर भी अग्नि है, यह स्वार्थ अनुमान है।

अब अनुमान के दूसरे भेद का स्वरूप बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं–

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(तु) परन्तु **(परार्थं)** परार्थानुमान **(तदर्थपरामर्शि-वचनात्)** उस स्वार्थानुमान के विषयभूत पदार्थ का निर्णय/निश्चय करने वाले वचनों से **(जातम्)** उत्पन्न होता है।

सूत्रार्थ–उस स्वार्थानुमान के विषयभूत पदार्थ–साध्य और साधन का परामर्श करने वाले–निर्णय/निश्चय करने वाले वचनों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थानुमान कहते हैं।

संस्कृतार्थ–स्वार्थानुमानगोचरार्थप्रतिपादकवचनेभ्यः समुत्पन्नं यत्साधन-ज्ञानं तन्निमित्तिकं साध्यविज्ञानं परार्थानुमानं निगद्यते।

टीकार्थ–स्वार्थानुमान के विषयभूत पदार्थ साध्य और साधन को कहने वाले वचनों से उत्पन्न हुआ जो साधन ज्ञान उसके निमित्त से जो साध्य का ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान कहा जाता है।

विशेषार्थ–किसी पुरुष को स्वार्थानुमान हुआ कि यहाँ धूम है, इसलिए अग्नि अवश्य होगी, क्योंकि अग्नि के बिना धूम हो ही नहीं सकता। फिर वह अपने शिष्य को समझाने के लिए कहता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है इसी प्रकार यहाँ धूम है इसीलिए यहाँ भी अग्नि होना आवश्यक है। इतने से वह शिष्य समझ लेता है। और उस समय उसे उन वचनों से निर्णयपूर्वक जो ज्ञान होता है, उसी को परार्थानुमान कहते हैं क्योंकि परार्थानुमान का लक्षण घट गया। गुरु को स्वार्थानुमान हुआ था और उसके विषय थे साध्य (अग्नि) और साधन (धूम)। उन्हीं को गुरु ने कहा, तब गुरु के वचनों से शिष्य को साध्य का साधन से ज्ञान हुआ।

सरल व्याख्या–दूसरों के वचनों के माध्यम से जब अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञान कराया जाता है तो उन वचनों से उत्पन्न हुआ ज्ञान परार्थ

अनुमान होता है।

धुँए से अग्नि का अनुमान लगाया जाता है, इस प्रकार स्वार्थ अनुमान को विषय करने वाले [परामर्शि] वचनों से जो अग्नि का ज्ञान होता है वह परार्थ अनुमान है।

स्वार्थ अनुमान किसी के वचनों से नहीं होता और परार्थ अनुमान किसी के वचन [उपदेश] से होता है यही इन दोनों में अंतर है।

परार्थानुमान के प्रतिपादक वचनों की उपचार से परार्थानुमान संज्ञा है, यह बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं–

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५२॥

अन्वयार्थ–(तद्धेतुत्वात्) उस परार्थानुमान का हेतु/कारण होने से **(तत्)** उस परार्थानुमान के प्रतिपादक **(वचनम्)** वचन को **(अपि)** भी परार्थानुमान कहते हैं।

सूत्रार्थ–परार्थानुमान के उत्पन्न होने में हेतु/कारण होने से परार्थानुमान के प्रतिपादक वचन को भी परार्थानुमान कहते हैं।

संस्कृतार्थ–स्वार्थानुमानस्य कार्यत्वात् परार्थानुमानस्य कारणत्वाच्च परार्थानुमानप्रतिपादकवचनमपि उपचारतः परार्थानुमानं प्रोच्यते।

टीकार्थ–स्वार्थानुमान का कार्य होने से परार्थानुमान का कारण होने से परार्थानुमान का प्रतिपादक वचन भी उपचार से परार्थानुमान कहा जाता है।

विशेषार्थ–उपचार किसी प्रयोजन को अथवा किसी निमित्त को लेकर किया जाता है। यहाँ वचन प्रथम तो परार्थानुमान के निमित्त हैं, दूसरे अनुमान के पाँच अवयवों के व्यवहार करने में प्रयोजनभूत हैं। क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, इसलिए उपचार से वचनों को भी परार्थानुमान कहते हैं।

वचनों को गौणरूप से अनुमान इसलिए कहा है कि वे अचेतन हैं और अचेतन से अज्ञान की निवृत्ति होती नहीं इसलिए जब इनसे फल नहीं होता तब इन्हें साक्षात् प्रमाण भी नहीं कह सकते। केवल उपचार (गौणता) से

प्रमाण कहा गया है, क्योंकि वे परार्थानुमान के कारण और स्वार्थानुमान के कार्य हैं।

सरल व्याख्या—यहाँ पर वचन को परार्थ अनुमान का कारण बताया है। अनुमान ज्ञान में वचन [उपदेश] कारण होते हैं, इसलिए कारण में [ज्ञानरूप] कार्य का उपचार करके यहाँ पर वचनों को परार्थ अनुमान स्वीकारा है।

४८ से लेकर ५२ सूत्र तक अनुमान के भेदों का प्रकरण पूरा हुआ।

वह अनुमान दो प्रकार का है इत्यादि रूप से उसके प्रकार को भी विस्तार से कहकर अन्यथानुपपन्नत्वरूप लक्षण की अपेक्षा हेतु/साधन एक प्रकार का होने पर भी अति संक्षेप से भेद करने पर वह हेतु दो प्रकार का है यह बात आचार्य माणिक्यनन्दी सूत्र के द्वारा दिखलाते हैं–

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५३॥

अन्वयार्थ–(उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्) उपलब्धि और अनुपलब्धि के भेद से **(सः)** वह **(हेतुः)** अविनाभाव लक्षण वाला हेतु **(द्वेधा)** दो प्रकार का है।

सूत्रार्थ—अविनाभाव लक्षण वाला वह हेतु दो प्रकार का है, उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप।

संस्कृतार्थ—हेतुर्द्विविधः उपलब्धिरूपोऽनुपलब्धिरूपश्च।

टीकार्थ—हेतु दो प्रकार का है उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप।

विशेषार्थ–उपलब्धि और अनुपलब्धि का अर्थ क्या है ? उपलब्धि नाम विद्यमानता का है, अतः बौद्ध लोग उपलब्धिरूप हेतु को विधि अर्थात् सद्भाव का साधक मानते हैं। इसी प्रकार अनुपलब्धि नाम अविद्यमानता का है, अतः उसे वे लोग प्रतिषेध अर्थात् अभाव का ही साधक मानते हैं।

आचार्य दूसरे मतावलम्बियों के नियम का निषेध करते हुए बतलाते हैं कि उपलब्धि और अनुपलब्धि सामान्य रूप से विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं–

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५४॥

अन्वयार्थ—(उपलब्धिः) उपलब्धिरूप हेतु **(च)** तथा **(अनुप-लब्धिः)** अनुपलब्धिरूप हेतु **(विधिप्रतिषेधयोः)** विधि और प्रतिषेध दोनों के साधक हैं।

सूत्रार्थ—उपलब्धिरूप हेतु विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है तथा अनुपलब्धिरूप हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनों का साधक है।

संस्कृतार्थ—उपलब्धिरूपो हेतुर्द्विविधः अविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धोप-लब्धिश्चेति। अनुपलब्धिरूपो हेतुरपि द्विविधः अविरुद्धानुपलब्धिः, विरुद्धानुप-लब्धिश्चेति।

टीकार्थ—उपलब्धिरूप हेतु दो प्रकार का है—अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि तथा अनुपलब्धिरूप हेतु भी दो प्रकार का है—अविरुद्धानुप-लब्धि और विरुद्धानुपलब्धि।

विशेषार्थ—इनमें अविरुद्धोपलब्धि विधि साधक है और दूसरा विरुद्धोपलब्धि प्रतिषेध साधक है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष में अर्थात् अविरुद्धानुपलब्धि विधिसाधक है और दूसरा विरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेध साधक है। इस प्रकार उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप दोनों हेतु विधि और निषेध दोनों के साधक होते हैं।

अब आचार्य उपलब्धिरुप हेतु के भी संक्षेप से विरुद्ध-अविरुद्ध के भेद से दो भेद बतलाते हुए अविरुद्धोपलब्धि के विधि को सिद्ध करने में विस्तार से भेद कहते हैं—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा-
व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(विधौ) विधि सिद्ध करने की दशा में **(अविरुद्धोप-लब्धिः)** अविरुद्धोपलब्धि **(व्याप्यकार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरभेदात्)** अविरुद्धव्याप्योपलब्धि, अविरुद्धकार्योपलब्धि, अविरुद्धकारणोपलब्धि, अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, अविरुद्ध-उत्तरचरोपलब्धि, अविरुद्ध-सहचरोप-लब्धि के भेद से **(षोढा)** छह प्रकार है।

सूत्रार्थ—विधि साधन की दशा में अविरुद्धोपलब्धि व्याप्य, कार्य, कारण, पूर्व, उत्तर और सहचर के भेद से छह प्रकार की है।

संस्कृतार्थ—अविरुद्धोपलब्धिरूपो हेतुः विधौ साध्ये सति षट्प्रकारो भवति। व्याप्यरूपः कार्यरूपः कारणरूपः पूर्वचररूपः उत्तरचररूपः, सहचररूपश्चेति।

टीकार्थ—अविरुद्धोपलब्धिरूप हेतु, विधि के साध्य होने पर, छह प्रकार की होती है। व्याप्यरूप, कार्यरूप, कारणरूप, पूर्वचररूप, उत्तरचररूप और सहचररूप इस प्रकार से ६ भेद हैं।

कारण हेतु के विधि साधकपना—

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥५६॥

अन्वयार्थ—(यत्र) जिसमें **(सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये)** सामर्थ्य की रुकावट नहीं है और अन्य कारणों की विकलता/कमी नहीं है ऐसे **(रसात्)** रस से **(एकसामग्र्यनुमानेन)** एक सामग्री के अनुमान द्वारा **(रूपानुमानम्)** रूप का अनुमान **(इच्छद्भिः)** चाहने वाले बौद्धों के द्वारा **(किञ्चित् कारणं)** कोई विशिष्ट कारणरूप **(हेतुः)** हेतु **(इष्टं एव)** स्वीकार किया गया ही है।

सूत्रार्थ—रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान स्वीकार करने वाले बौद्धों ने कोई विशिष्ट कारण रूप हेतु माना ही है, जिसमें सामर्थ्य की रुकावट नहीं है और दूसरे कारणों की विकलता नहीं है।

संस्कृतार्थ—सौगतः प्राह–विधिसाधनं द्विविधमेव, स्वभावकार्य–भेदात्। कारणस्य तु कार्याविनाभावाभावाद् अलिङ्गत्वम्। नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति वचनादिति। तदप्यसङ्गतम्–आस्वाद्यमानाद्धि रसात् तज्जनिका सामग्री अनुमीयते ततो रूपानुमानं जायते, प्राक्तनो रूपक्षणः सजातीयं रूपक्षणान्तरलक्षणं कार्यं कुर्वन्नेव विजातीयरसलक्षणं कार्यं कुरुते इति रूपानुमानमिच्छद्भिः सौगतैः किचित्कारणं हेतुत्वेनाभ्युपगतमेव रूपक्षणस्य सजातीयरूपक्षणान्तरा–व्यभिचारात्। एतेनेदमुक्तं यत् यस्मिन्कारणे सामर्थ्या–

प्रतिबंधः कारणान्तर-विकलता च नास्ति तद्विशिष्टकारणं कार्योत्पत्ति-नियामकत्वादवश्यमेव कार्यानुमापकं भवतीतिः भावः।

टीकार्थ—बौद्ध कहते हैं—विधि साधक हेतु दो प्रकार का ही है—स्वभावहेतु और कार्यहेतु, क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से हेतु नहीं माना जा सकता। कारण, कार्य वाले अवश्य हों ऐसा नहीं है इस प्रकार वचन है। **जैन**—उन बौद्धों का ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि आस्वाद्यमान रस से उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान किया जाता है उससे रूप का अनुमान होता है पहले का रूपक्षण सजातीय अन्यरूपक्षण-लक्षण वाले कार्य को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय रस लक्षण कार्य को करता है, इस प्रकार से रूप के अनुमान की इच्छा करने वाले बौद्धों के द्वारा कोई कारण हेतुरूप से माना ही गया है, क्योंकि पूर्वकाल के रूपक्षण का सजातीय अन्यरूपक्षण के साथ कोई व्यभिचार नहीं पाया जाता है। इसके द्वारा यह कहा गया जो जिस कारण में सामर्थ्य का प्रतिबंध नहीं है और अन्यकारण की विकलता नहीं है, वह विशिष्टकारण कार्योत्पत्ति का नियामक होने से अवश्य ही कार्य का अनुमापक होता है यह भाव है।

विशेषार्थ—बौद्ध लोग कारणरूप हेतु को नहीं मानते। आचार्य ने उनकी मान्यता के अनुसार यह सिद्ध किया है कि वे लोग ही कारणरूप हेतु को मानते ही हैं। उनकी मान्यता यह है कि वर्तमानकालवर्ती रस से उसकी एक सामग्री (उत्पादक सामग्री) का अनुमान होता है और एक सामग्री के अनुमान से रस समान कालवर्ती रूप का अनुमान होता है। उत्तररसक्षण और उत्तररूपक्षण दोनों की सामग्री एक ही है क्योंकि दोनों ही पूर्वरसक्षण और पूर्वरूपक्षण से उत्पन्न होते हैं। उत्तररूपक्षण की उत्पत्ति में पूर्वरूपक्षण उपादान कारण और पूर्वरसक्षण सहकारी कारण है। इसी प्रकार उत्तररसक्षण की उत्पत्ति में पूर्वरसक्षण उपादान कारण है और पूर्वरूपक्षण सहकारी कारण है। आचार्य बौद्धों के द्वारा मानी गई इस व्यवस्था से ही कारण-हेतु को उनके द्वारा माना जाना सिद्ध करते हैं। वह इस प्रकार है कि किसी व्यक्ति ने गहन अन्धकार में आम को चखा। वह उसके मीठे रस के

स्वाद से विचारता है कि इसका रूप पीला होना चाहिए। यहाँ वर्तमानरसक्षण पूर्वरसक्षणरूप उपादानकारण से और पूर्वरूप-क्षणरूप सहकारीकारण से उत्पन्न हुआ है, क्योंकि पूर्वरूपक्षण सजातीय उत्तररूपक्षणरूप कार्य को उत्पन्न करता हुआ ही विजातीय उत्तररसक्षणरूप कार्य की उत्पत्ति में सहकारी होता है, अतः कारणभूत पूर्वरूपक्षण से कार्यस्वरूप उत्तररूपक्षण का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार बौद्ध रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान करते हैं, इसलिए उन्हीं की मान्यता से यह सिद्ध किया होता है कि उन्होंने भी कार्यरूप हेतु को माना ही है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धमत में प्रत्येक क्षण विनश्वर है अतः वे प्रतिक्षणवर्ती वस्तु का 'क्षण' नाम से व्यवहार करते हैं।

सरल व्याख्या—बौद्ध लोग केवल स्वभाव हेतु और कार्य हेतु को ही विधि रूप में मानते हैं। जबकि यहाँ पर आचार्य देव ने विधि के ६ भेदों में कारण रूप हेतु भी बताया है। इसी बात का समर्थन बौद्धों के द्वारा ही माने हुए सूत्र में कहे गये दृष्टान्त से किया है।

बौद्धों के द्वारा मान्य दृष्टान्त यह है कि किसी व्यक्ति ने गहन अंधकार में आम को चखा और वह उसके मीठे रस के स्वाद से विचारता है कि इसका रूप पीला होना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध रस से एक सामग्री के अनुमान द्वारा रूप का अनुमान करते हैं, इसलिए उन्हीं की मान्यता से यह सिद्ध होता है कि उन्होंने भी कारण रूप हेतु को माना है। इसलिए वे यह नहीं कह सकते कि विधि उपलब्धि में कारण रूप हेतु नहीं होता है।

उस हेतु की दो विशेषताएँ होनी चाहिए। १. उस हेतु की शक्ति का प्रतिबन्ध (रुकावट) न हो, २. अन्य सहायक कारणों की कमी न हो।

घड़ा बनाते समय चाक की कीली को रोक देना शक्ति का प्रतिबन्ध करना है और डण्डा आदि नहीं होना यह अन्य कारणों की कमी है।

जिस कारण में ये दोनों बातें न हो वह कारण अवश्य कार्य को उत्पन्न करता है। यह तात्पर्य है।

अब पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी भिन्न ही हैं, क्योंकि उनका स्वभाव हेतु,

कार्य और कारण हेतुओं में भी अन्तर्भाव नहीं होता है। यह बात आचार्य दिखलाते हैं–

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥५७॥

अन्वयार्थ–(पूर्वोत्तरचारिणोः) पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ **(तादात्म्यं)** तादात्म्य सम्बन्ध **(च)** और **(तदुत्पत्तिः)** तदुत्पत्ति सम्बन्ध **(न)** नहीं है **(वा)** क्योंकि **(कालव्यवधाने)** काल का व्यवधान होने पर **(तदनुपलब्धेः)** उन दोनों सम्बन्धों की साध्य के साथ उपलब्धि नहीं है।

सूत्रार्थ–पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का साध्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि काल का व्यवधान होने पर इन दोनों सम्बन्धों की उपलब्धि नहीं होती।

संस्कृतार्थ–साध्यसाधनयोस्तादात्म्यसम्बन्धे स्वभावहेतावन्तर्भावो भवेत्। तदुत्पत्ति-सम्बन्धे च कार्यहेतौ कारणहेतौ वान्तर्भावो विभाव्यते। न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तदुभयसम्बन्धौ स्तः, कालव्यवधाने सति तदुभय-सम्बन्धानुपलब्धेः। पूर्वोत्तरचारिणोश्चान्तर्मुहूर्तप्रमाणं कालव्यवधानं सुनिश्चितम्। अतश्च तयोर्न स्वभावादिहेतुष्वन्तर्भावः। इति तौ तेभ्यः पृथगेव हेतू प्रत्येतव्यौ।

टीकार्थ–साध्य-साधन में तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर उसका स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव होता है और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के होने पर कार्यहेतु में अथवा कारणहेतु में अन्तर्भाव होता है। पूर्वचर और उत्तरचर हेतु में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि काल का व्यवधान होने पर इन दोनों सम्बन्धों की उपलब्धि नहीं होती है। पूर्वचर और उत्तरचर में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल का व्यवधान सुनिश्चित है और इसलिए इन दोनों हेतुओं का स्वभावादि तीनों में से किसी भी हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता। इस प्रकार पूर्वचर और उत्तरचर ये दोनों हेतु, उन तीनों हेतुओं से–स्वभावहेतु, कार्यहेतु और कारणहेतु से पृथक् ही जानना चाहिए।

विशेषार्थ—ज्ञान और आत्मा जैसे दो अभिन्न पदार्थों में जो सम्बन्ध होता है, उसे **तादात्म्य सम्बन्ध** कहते हैं। एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति को **तदुत्पत्ति सम्बन्ध** कहते हैं। एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है। यह **पूर्वचरहेतु** का उदाहरण है। एक मुहूर्त के पूर्व ही भरणि का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है, यह **उत्तरचरहेतु** का उदाहरण है। इन दोनों ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि एक नक्षत्र के बाद दूसरे नक्षत्र के उदय में अन्तर्मुहूर्त का व्यवधान है। अतः इनमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध संभव है जिससे कि उनका स्वभावहेतु में अन्तर्भाव किया जा सके। और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध ही सम्भव है कि जिससे उनका कार्यहेतु या कारणहेतु में अन्तर्भाव किया जा सके। यहाँ पूर्वचर और उत्तरचर ये दोनों हेतु भिन्न ही हैं, यह सिद्ध हुआ।

सरल व्याख्या—बौद्ध लोग पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भिन्न नहीं मानते हैं। वह मानते हैं कि स्वभाव हेतु में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। बौद्ध लोग विधि में स्वभाव हेतु और कार्य हेतु दो ही मानते हैं। इसी धारणा का खण्डन करते हुए यहाँ आचार्यदेव ने कहा है कि पूर्वचर और उत्तरचर दोनों हेतु भिन्न-भिन्न हैं। इनमें न तो तादात्म्य सम्बन्ध होता है और न तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहकर बौद्धों द्वारा मान्य स्वभाव हेतु में इन दोनों हेतुओं का अन्तर्भाव नहीं होता है, यह स्पष्ट किया है। एक बात और याद रखें कि तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वभाव सम्बन्ध (हेतु) है।

इसी प्रकार 'तदुत्पत्ति सम्बन्ध' भी नहीं है, ऐसा कहकर कार्य हेतु में अन्तर्भाव नहीं होता है, यह स्पष्ट किया है क्योंकि तदुत्पत्ति सम्बन्ध के साथ ही कार्य-कारण सम्बन्ध होता है।

अभिन्न पदार्थों का गुण-गुणी का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे आत्मा और ज्ञान का, पुद्गल और रूप-रस का, अग्नि और उष्णता का।

एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति में तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। जैसे

कुम्हार का घड़ा बनाना, अग्नि से भोजन पकना आदि।

प्रासंगिक पूर्वचर, उत्तरचर सम्बन्ध इन तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनों सम्बन्धों में अन्तर्भूत नहीं होते हैं।

पूर्वचर, उत्तरचर हेतु इन तादात्म्य और तदुत्पत्ति में गर्भित नहीं होते इसका कारण है कि, पूर्वचर, उत्तरचर सम्बन्ध में काल का व्यवधान होता है जबकि तादात्म्य और तदुत्पत्ति में नहीं।

एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय चल रहा है, यह पूर्वचर हेतु का उदाहरण है क्योंकि यहाँ अन्तर्मुहूर्त काल का व्यवधान है। इसे तदुत्पत्ति हेतु में गर्भित नहीं कर सकते हैं क्योंकि तदुत्पत्ति में काल का व्यवधान नहीं है। इसी तरह कल रविवार होगा क्योंकि आज शनिवार है इस पूर्वचर हेतु के उदाहरण में भी २४ घंटे काल का व्यवधान है। इसी तरह उत्तरचर हेतु के विषय में समझना।

इस सूत्र में यह स्पष्ट किया है कि पूर्वचर, उत्तरचर हेतु भिन्न स्वरूप वाले हैं, उनका किसी अन्य हेतु में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता है।

यहाँ बौद्धों का कहना है कि काल के व्यवधान में भी कारण-कार्य भाव देखा ही जाता है जैसे कि जाग्रतप्रबुद्धदशा और भावीप्रबोध (ज्ञान) में तथा मरण और अरिष्ट में कारण-कार्य भाव देखा जाता है। आचार्य उनके इस कथन का परिहार करने के लिए सूत्र कहते हैं-

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम् ॥५८॥

अन्वयार्थ—(भाव्यतीतयोः मरणजाग्रद्बोधयोः) भावी-मरण और अतीत-जाग्रतबोध के **(अपि)** भी **(अरिष्टोद्बोधौ)** अरिष्ट और उद्बोध के प्रति हेतुपना **(न)** नहीं है।

सूत्रार्थ—भावी-मरण और अतीत-जाग्रतबोध के भी अरिष्ट और उद्बोध के प्रति कारणपना नहीं है अर्थात् भावी-मरण, अरिष्ट का कारण नहीं है तथा पहले का ज्ञान—सोने के पूर्व अवस्था का ज्ञान उद्बोध—जागने के बाद के ज्ञान का कारण नहीं ।

संस्कृतार्थ—ननु कालव्यवधानेऽपि कारणकार्यभावो दृश्यते एव। यथा जाग्रत्प्रबुद्धदशाभाविप्रबोधयोर्मरणारिष्टयोर्वा कारणकार्यभाव इति चेन्न भविष्यत्कालीनमरणस्यापशकुनं प्रति, भूतकालीनजाग्रद्‌बोधस्य प्रबुद्ध-दशाभाविबोधं प्रति कारणत्वाभावात्।

टीकार्थ—बौद्धों का कथन है कि काल के व्यवधान में भी कारणकार्य भाव देखा ही जाता है, जैसे कि जाग्रत-प्रबुद्धदशा और भावी-प्रबोध (ज्ञान) में तथा मरण और अरिष्ट/अपशकुन में कारण-कार्य भाव देखा जाता है। यदि ऐसा कहते हैं तो यह ठीक नहीं है, भविष्यत्‌काल में होने वाले मरण का अपशकुनादि के प्रति तथा सोने से पूर्व समय के ज्ञान का प्रातःकाल के ज्ञान के प्रति कारणपने का अभाव होने से कारण-कार्यभाव नहीं बनता।

विशेषार्थ—बौद्धों का कहना है कि रात्रि में सोते समय का ज्ञान प्रातःकाल के ज्ञान में कारण होता है और आगामी-काल में होने वाला मरण इस समय में होने वाले अरिष्टों (अपशकुनों और उत्पातों) का कारण है, इससे सिद्ध है कि काल के व्यवधान में भी कारण-कार्य भाव होता है।

अब जैनाचार्य कहते हैं कि दोनों में कारण-कार्य भाव बतलाना ठीक नहीं है, क्योंकि कारण-कार्य भाव तभी संभव है जबकि कारण के सद्‌भाव में कार्य उत्पन्न हो। जब सोने से पूर्व समय का ज्ञान नष्ट ही हो गया है, तब वह प्रातःकाल के प्रबोध का कारण कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार आगामी काल में होने वाला मरण जब अभी हुआ ही नहीं है, तब वह इस समय होने वाले अपशकुनादि का भी कारण कैसे हो सकता है ? क्योंकि आपके द्वारा दिये गये दोनों उदाहरणों में काल का अंतराल बीच में पाया जाता है और जहाँ काल का अंतराल पाया जाता है, वहाँ कारण-कार्य भाव हो नहीं सकता है। अपशकुन तो होता है पर मरण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। इसी प्रकार शयन के बाद जागने पर सोने के पूर्व वाली जाग्रत अवस्था की बात याद आती भी है और नहीं भी आती है। इसलिए बौद्धों का, काल का व्यवधान होने पर भी कारण-कार्यभाव मानकर पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभावादि हेतु में अन्तर्भाव मानना उचित

नहीं है।

सरल व्याख्या—सूत्र में पदों का सम्बन्ध लगाएँ। इसमें तीन समास पद हैं।

भावी-अतीतयोः, मरण-जाग्रद्‌बोधयोः, न अरिष्ट-उद्‌बोधौ

तीनों पद के प्रथम पद को क्रम से लगाने पर एक उदाहरण बनता है-

भावि-मरण-न अरिष्ट अर्थात् भावी काल में होने वाले मरण में अरिष्ट (अपशकुन) कारण नहीं है।

अतीत-जाग्रद्‌बोध-न उद्‌बोध अर्थात् अतीतकाल में जाग्रत समय का ज्ञान उद्‌बोध (पुनः जागने पर होने वाले ज्ञान) में कारण नहीं है।

अभिप्राय यह है कि-

१. पहले किसी को अपशकुन हुआ, मान लो कहीं जाते समय बिल्ली रास्ता काट गई तो इस अपशकुन के बाद आगामीकाल में किसी का मरण हुआ या नहीं हुआ, कोई नियामकता तो है नहीं इसलिए अपशकुन और मरण का कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं बनता है। अपशकुन और मरण के बीच काल का व्यवधान भी है, जो कार्य-कारण सम्बन्ध (तदुत्पत्ति सम्बन्ध) में बाधक है।

२. इसी प्रकार कोई व्यक्ति अतीत में अर्थात् पिछली रात्रि में सोते समय जो ज्ञान किए था वही ज्ञान प्रातःकाल जाग्रत होने पर हुए सुबह के ज्ञान का कारण है। यहाँ भी रात्रि और सुबह के बीच काल व्यवधान होने से कारण-कार्य भाव नहीं बनता है।

"काल व्यवधान भी कारण-कार्य सम्बन्ध बनाता है" ऐसी बौद्धों की मान्यता है और उनका ही दिया हुआ उदाहरण इस सूत्र में दिया गया है तथा ये उदाहरण कारण-कार्य सम्बन्ध में घटित नहीं होते हैं, यह भी इसी सूत्र में कहा गया है।

काल का व्यवधान होने पर भी कारण-कार्यभाव मानने के खण्डन में हेतु-

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥५९॥

अन्वयार्थ—(हि) क्योंकि **(तद्व्यापाराश्रितं)** उस कारण के व्यापार के आश्रित **(तद्भावभावित्वम्)** कार्य का व्यापारपना होता है।

सूत्रार्थ—कारण के व्यापार के आश्रित ही कार्य का व्यापार हुआ करता है।

संस्कृतार्थ—यस्मात्कारणात् कारणकार्यभावः कारणव्यापाराश्रितो विद्यते ततो मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टबोधौ प्रतिहेतुत्वम् अतिव्यवहित–पदार्थानां कारणव्यापारसापेक्षाभावात्।

टीकार्थ—जिस कारण से कारणकार्यभाव कारण के व्यापार के आश्रित है उस कारण से मरण तथा जाग्रतबोध के और अरिष्ट तथा उद्बोध के प्रति हेतुपना नहीं है अर्थात् भावीमरण का वर्तमान–अरिष्ट/अपशकुन के प्रति हेतुपना नहीं है और उसी तरह जाग्रतबोध का उद्बोध के प्रति हेतुपना नहीं है अर्थात् कारणकार्यपना नहीं है। क्योंकि अतिव्यवहित–पदार्थों का कारण के व्यापार के प्रति आश्रितपना नहीं होता है।

सरल व्याख्या—कारण के सद्भाव में कार्य का होना तद्भावभावित्व कहलाता है।

पिछले सूत्र में दिये गये उदाहरण में कारण के व्यापार के आश्रित कार्य नहीं हुआ इसलिए उसमें कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं है।

सहचरहेतु का भी स्वभावहेतु, कार्य और कारण हेतुओं में अन्तर्भाव नहीं होता है। यह प्रदर्शित करते हैं–

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६०॥

अन्वयार्थ—(सहचारिणः) सहचारी पदार्थ के **(अपि)** भी **(परस्पर-परिहारेण)** परस्पर के परिहार से **(अवस्थानात्)** अवस्थित रहने से सहचरहेतु का स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता **(च)** और **(सहोत्पादात्)** एक साथ उत्पन्न होने से कार्यहेतु और कारणहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

सूत्रार्थ—सहचारी पदार्थ परस्पर के परिहार से रहते हैं, अतः सहचरहेतु

का स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता और वे एक साथ उत्पन्न होते हैं अतः उसका कार्यहेतु और कारणहेतु में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

संस्कृतार्थ—सहचारिणोरपि साध्यसाधनयोः परस्परपरिहारेणावस्थानात् सहचराख्यहेतोर्न स्वभाव-हेतावन्तर्भावः। सहोत्पादाच्च न कार्यहेतौ कारणहेतौ वान्तर्भावः तस्मात्सौगतैः सहचराख्योऽपि हेतुः स्वतन्त्र एवाभ्युपगन्तव्यः।

टीकार्थ—साध्य-साधन में सहचारी पदार्थ के भी परस्पर परिहार से अवस्थान होने से सहचर नामक हेतु का स्वभाव हेतु में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता तथा सहचारी पदार्थ एक साथ उत्पन्न होने से कार्य हेतु में अथवा कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। इसलिए बौद्धों के द्वारा सहचर नामक हेतु भी स्वतंत्र ही स्वीकार करना चाहिए।

विशेष—जैसे गाय के समान समयवर्ती अर्थात् एक काल में होने वाले सव्येतर—सव्य (दायाँ) और इतर (बायाँ) विषाण (सींग) में कार्य-कारण भाव नहीं माना जाता इसी प्रकार फलादिक में एक साथ उत्पन्न होने वाले रूप और रस में भी कार्य कारण भाव नहीं माना जा सकता। यदि एक साथ उत्पन्न होने वाले गाय के दोनों सींगों में और रूप-रस में कार्यकारणभाव माना जावे, तो फिर कार्य-कारण के प्रतिनियमरूप अवस्था के अभाव का प्रसंग आयेगा। अर्थात् उनमें यह कार्य है और यह उसका कारण है, ऐसी अवस्था का कोई नियम नहीं बन सकेगा। अतः सहचरहेतु को स्वतंत्र ही स्वीकार करना चाहिए।

सरल व्याख्या—परस्पर परिहार से तात्पर्य परस्पर में भिन्नता से है।

सहचारी हेतु भी पूर्वचर, उत्तरचर की तरह भिन्न हेतु है।

सहचारी हेतु का अन्तर्भाव भी स्वभाव हेतु में नहीं हो सकता है क्योंकि सहचारी हेतु परस्पर में परिहार से रहते हैं। और कार्य-कारण हेतु में भी अन्तर्भाव नहीं होता है क्योंकि वे एक साथ उत्पन्न होते हैं।

सहचारी हेतु की दो विशेषताएँ इस सूत्र में दर्शायी गई हैं।

१. परस्पर में भिन्नता के साथ रहना या भिन्न स्थान में रहना।

२. साथ में उत्पत्ति होना।

सहचर हेतु के उदाहरण–

१. गाय के दोनों सींग

२. रूप, रस आदि का पुद्गल में उत्पन्न होना

३. मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का साथ रहना

४. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का साथ रहना।

अब क्रम प्राप्त अविरुद्धव्याप्योपलब्धिरूप व्याप्यहेतु का उदाहरण देते हुए अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक शिष्य के अभिप्राय के वश प्रतिपादित प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों को प्रदर्शित करते हैं–

परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्। य एवं, स एवं दृष्टो यथा घटः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टोः यथा वन्ध्यास्तनंधयः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥६१॥

अन्वयार्थ–(शब्दः) शब्द **(परिणामी)** परिणमनशील है **(कृतकत्वात्)** किया जाने वाला होने से **(यः)** जो **(एवं)** इस प्रकार कृतक है **(सः)** वह **(एवं)** इस प्रकार परिणामी **(दृष्टः)** देखा जाता है **(यथा)** जैसे **(घटः)** घड़ा **(च)** और **(अयं)** यह शब्द **(कृतकः)** किया जाने वाला है **(तस्मात्)** उस कारण से **(परिणामी)** परिणमन वाला है **(तु)** परन्तु **(यः)** जो **(इति)** इस प्रकार **(परिणामी)** परिणमनशील **(न)** नहीं है **(सः)** वह **(कृतकः)** किया जाने वाला **(न)** नहीं **(दृष्टः)** देखा जाता **(यथा)** जैसे **(वन्ध्यास्तनंधयः)** बन्ध्या का पुत्र **(च)** और **(अयं)** यह शब्द **(कृतकः)** किया जाने वाला है **(तस्मात्)** इसलिए **(परिणामी)** परिणमनशील है।

सूत्रार्थ–शब्द परिणामी है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह कृतक है–किया हुआ होता है (हेतु)। जो जो कृतक होता है वह वह परिणामी देखा जाता है, जैसे–घट (अन्वयदृष्टान्त)। घट की तरह शब्द भी कृतक है (उपनय) इसलिए परिणामी है (निगमन) जो परिणामी नहीं होता, वह कृतक भी नहीं

देखा जाता है जैसे कि बन्ध्या का पुत्र (व्यतिरेकदृष्टान्त), कृतक यह शब्द है (उपनय), अतः वह परिणामी है (निगमन)।

संस्कृतार्थ—परिणामी शब्दः इति प्रतिज्ञा। कृतकत्वादिति हेतुः। यथा घटः इत्यन्वयदृष्टान्तः। यथा वन्ध्यास्तनन्धयः इति व्यतिरेकदृष्टान्तः। कृतक चायमित्युपनयः। तस्मात्परिणामीति निगमनम्। एवमत्र पूर्वं बालव्युत्पत्त्यर्थं अनुमानस्य यानि पञ्चाङ्गानि अङ्गीकृतानि तान्युपदर्शितानि। अत्र कृतकत्वादिति हेतुः शब्दस्य परिणामित्वं साधयति, परिणामित्वेन व्याप्तं च वर्तते, अतोऽविरुद्धव्याप्योपलब्धिनामत्वं लभते।

टीकार्थ—शब्द परिणामी है यह प्रतिज्ञा है। **किया जाने वाला होने से** यह हेतु है। **जैसे—घट** यह अन्वयदृष्टान्त है। **जैसे—बन्ध्या का पुत्र** यह व्यतिरेकदृष्टान्त है। वैसा ही यह भी **कृतक** है, यह उपनय है। **इसलिए परिणामी है** यह निगमन है। इस प्रकार इसमें बालकों के ज्ञानार्थ अनुमान के जो पाँच अंगों को पहले स्वीकृत किया गया था, उनको दिखाया गया है। इसमें किया जाने वाला होने से यह हेतु शब्द के परिणामपने को सिद्ध करता है और परिणामपने के साथ व्याप्त है, इसलिए अविरुद्धव्याप्योपलब्धि नाम को प्राप्त होता है यहाँ परिणामित्व-साध्य से अविरुद्धव्याप्य-कृतकत्व की उपलब्धि है।

विशेषार्थ—जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति में अन्य के व्यापार की अपेक्षा रखता है वह **कृतक** कहा जाता है और यह कृतकपना न कूटस्थ नित्यपक्ष में बनता है और न क्षणिक पक्ष में किन्तु परिणामी होने पर ही कृतकपना संभव है। जो अल्प देश में रहे, वह **व्याप्य** और जो बहुत देश में रहे, उसे **व्यापक** कहते हैं। कृतकत्व केवल पुद्‌गल द्रव्य में रहने से **व्याप्य** है और परिणामित्व आकाशादि सभी द्रव्यों में पाये जाने से **व्यापक** है। जो प्रतिसमय परिणमनशील होकर भी अर्थात् पूर्व आकार का परित्यागकर और उत्तर आकार को धारण करते हुए भी दोनों अवस्थाओं में अपने स्वत्व को कायम रखता है, उसे **परिणामी** कहते हैं।

सरल व्याख्या—इस सूत्र में शब्द परिणामी है क्योंकि कृतक है, यह

अविरुद्ध व्याप्य उपलब्धि का उदाहरण है।

जो अल्प देश में रहे वह व्याप्य और जो सर्व देश में रहे वह व्यापक होता है।

इस उदाहरण में 'कृतक' हेतु व्याप्य है क्योंकि कृतक अर्थात् किसी का किया हुआ या बनाया हुआ, यह हेतु मात्र पुद्गल द्रव्य में ही रहता है तथा परिणामीपना सभी द्रव्यों में पाया जाता है इसलिए व्यापक है।

इसी सूत्र में अनुमान के पाँचों अंगों को शास्त्र में कैसे प्रयुक्त किया जाता है, यह भी दिखलाया है।

अब आचार्य अविरुद्धकार्योपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं–

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥६२॥

अन्वयार्थ–(अत्र) इस **(देहिनि)** प्राणी में **(बुद्धिः)** बुद्धि **(अस्ति)** है **(व्याहारदेः)** वचनादि के होने से।

सूत्रार्थ–इस शरीरधारी प्राणी में बुद्धि है क्योंकि बुद्धि के कार्य वचनादिक पाये जाते हैं। यहाँ बुद्धि के अविरुद्ध कार्य वचनादिक की उपलब्धि है, इसलिए यह अविरुद्धकार्योपलब्धि हेतु है।

संस्कृतार्थ–अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिः व्याहारादेरित्यत्र बुद्ध्यविरुद्ध-कार्यस्य वचनादेर्लब्धिः दृश्यते, अतोऽयम् अविरुद्धकार्योपलब्धिहेतुः कथ्यते।

टीकार्थ–इस प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि बुद्धि के कार्यवचनादि पाये जाते हैं। यहाँ बुद्धि के अविरुद्ध कार्य वचनादिक की उपलब्धि देखी जाती है। इसलिए यह अविरुद्धकार्योपलब्धिहेतु कहा जाता है।

विशेष–यहाँ पर बुद्धि साध्य है और उसका अविरोधी कार्य वचनादि हेतु है, वह अपने साध्य की सिद्धि करता है यह अविरुद्धकार्योपलब्धि का उदाहरण है।

सरल व्याख्या–यहाँ व्याहार के साथ आए आदि शब्द से उस प्राणी के शरीर के अंगों की प्रवृत्ति और आकार विशेष आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। चूँकि यह अविरुद्ध कार्य उपलब्धि रूप विधि साधक हेतु का

उदाहरण है इसलिए हेतु पर ही विचार करना है। हेतु को संस्कृत में पञ्चमी विभक्ति में लिखा जाता है। सूत्र में हेतु प्रयोग अन्त में किया जाता है। 'व्याहारादेः' यह हेतु पद है। बुद्धि साध्य है।

यह हेतु कार्य-रूप है क्योंकि प्राणी में बुद्धि है, यह बात सिद्ध करने के लिए यह हेतु दिया गया है और सभी जानते हैं कि बुद्धि के कार्य ही वचन व्यापार होते हैं। व्याहार शब्द मुख्य रूप से वचन चातुर्य को बताता है। चूँकि वचन चातुर्य आदि क्रिया-कलापों से प्राणी में बुद्धि है, यह सिद्ध होता है इसलिए यह हेतु अविरुद्ध (विना विरोध के) कार्य की उपलब्धि (प्राप्ति) कराता है।

अविरुद्ध उपलब्धि-विधि (सकारात्मक) वाक्यों में होती है जो 'अस्ति' क्रिया पद से जानी जाती है। सर्वत्र 'अस्ति' पद से इसी तरह पहचान कर लेना।

अन्य उदाहरण—

अस्त्यत्राग्निर्धूमात्-यहाँ अग्नि है धूम होने से।

अस्त्यत्र वायुः केतुचलनात्-यहाँ हवा है क्योंकि ध्वजा हिल रही है।

अस्त्यत्र महोत्सवः सम्मर्ददर्शनात्-यहाँ महोत्सव है क्योंकि भीड़ दिखाई दे रही है।

अब अविरुद्धकारणोपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं—

अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ॥६३॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(छाया)** छाया **(अस्ति)** है **(छत्रात्)** छत्र होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ पर छाया है क्योंकि छाया का अविरोधी कारण छत्र पाया जाता है।

संस्कृतार्थ—''अस्त्यत्र छाया छत्रात्'' अत्र छत्रनामककारणहेतुः छायानामकसाध्यं साध्नोति। अर्थादत्रच्छायायाः अविरुद्धकारणस्य छत्रस्योपलब्धिर्विद्यते। अतोऽयं हेतुः अविरुद्धकारणोपलब्धिहेतुः कथ्यते।

टीकार्थ–यहाँ पर छाया है, छत्र होने से, यहाँ छत्र नामक कारण हेतु छाया नामक साध्य को सिद्ध करता है। अर्थात् यहाँ छाया के अविरुद्धकारण छत्र की उपस्थिति है, इसलिए यह हेतु अविरुद्ध-कारणोपलब्धि हेतु कहा जाता है।

सरल व्याख्या–'छत्रात्' हेतु है। 'छाया' साध्य है। छाया होने में छत्र कारण होता है। इसलिए यहाँ छत्र रूप हेतु अविरुद्ध कारण-उपलब्धि रूप है।

अन्य उदाहरण–

१. अस्त्यत्र प्रकाशः सूर्योदयात्।

यहाँ प्रकाश है, सूर्योदय होने से।

२. अस्त्यस्य संसारः कर्मोदयात्।

इसका संसार है, कर्मोदय होने से।

३. अस्ति अस्मिन् आत्मनि शोके मातृवियोगात्।

इस आत्मा में शोक है, माता का वियोग होने से।

अब अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिरूप हेतु को कहते हैं–

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥६४॥

अन्वयार्थ–(शकटं) रोहिणी **(उदेष्यति)** उदित होगा **(कृत्तिकोदयात्)** कृत्तिका नक्षत्र का उदय होने से।

सूत्रार्थ–(एक मुहूर्त के बाद) शकट (रोहिणी नक्षत्र) का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय है।

संस्कृतार्थ–उदेष्यति शकटं कृतिकोदयाद् अत्र कृतिकोदयरूपं पूर्वचर-हेतुः शकटोदयभावितारूपसाध्यं साध्नोति। अर्थादत्र शकटोदय-भाविताया: अविरुद्धपूर्वचरस्य कृत्तिकोदयस्योपलब्धि र्विद्यते। अतोऽयं हेतुः अविरुद्ध-पूर्वचरोपलब्धिहेतुः निगद्यते।

टीकार्थ–रोहिणी नक्षत्र उदित होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है यहाँ कृत्तिका का उदयरूप पूर्वचरहेतु रोहणी के उदय होने रूप साध्य

को साधता है। अर्थात् यहाँ रोहिणी के उदय होने के अविरुद्ध–पूर्वचर कृत्तिका के उदय की उपलब्धि है इसलिए यह हेतु अविरुद्ध–पूर्वचरोपलब्धिहेतु कहा जाता है।

विशेष—प्रतिदिन क्रम से एक-एक मुहूर्त के पश्चात् अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि नक्षत्रों का उदय होता है। जब जिसका उदय विवक्षित हो, तब उसके पूर्ववर्ती नक्षत्र को पूर्वचर और उत्तरवर्ती नक्षत्र को उत्तरचर जानना चाहिए।

रोहिणी का उदय साध्य है। वह उसके पूर्वचर कृत्तिका के उदयरूप हेतु से सिद्ध किया जा रहा है, अतः यह अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धिहेतु का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—प्रत्येक नक्षत्र का उदय अन्तर्मुहूर्त रहता ही है इसलिए इतना काल का व्यवधान प्रत्येक नक्षत्र के उदय-अस्त में जोड़ना।

शकट–रोहिणी नक्षत्र को कहते हैं। २७ नक्षत्रों में प्रारम्भ के नक्षत्रों का क्रम इस प्रकार ध्यान रखें। रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि। इनमें पूर्ववर्ती नक्षत्र पूर्वचर और आगे को उत्तरचर कहलाते हैं। 'कृत्तिकोदयात्' यह हेतु अविरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि का है। कृत्तिका नक्षत्र का उदय चल रहा है, इसके अन्तर्मुहूर्त बाद रोहिणी का उदय होगा इसलिए रोहिणी के लिए कृत्तिका पूर्वचर हुआ।

अन्य उदाहरण—

१. भविष्यति श्वः सोमवासरो रविवारोदयात्।

कल सोमवार होगा, आज रविवार होने से।

२. आगमिष्यति वर्षासमयो ग्रीष्मकालात्।

वर्षा का समय आएगा, अभी ग्रीष्मकाल होने से।

अब अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु को कहते हैं–

उद्गाद् भरणिः प्राक्तत एव ॥६५॥

अन्वयार्थ—(ततः) उस कृत्तिका के **(प्राक्)** पहले **(एव)** ही **(भरणिः)**

भरणि **(उद्गाद्)** उदय होने से कृत्तिका अविरुद्धउत्तरचरोप-लब्धिहेतु है।

सूत्रार्थ—भरणि का उदय एक मुहूर्त के पूर्व ही हो चुका है, क्योंकि कृत्तिका का उदय पाया जाता है।

संस्कृतार्थ—मुहूर्तात्प्राक्भरणेरुदयो व्यतीतः कृतिकोदयात्। अत्र कृतिकोदयनामकोत्तरचरहेतुः भरण्युदयभूततारूपसाध्यं साधयति। अर्थादत्र भरण्युदयभूततायाः अविरुद्धोत्तरचरस्य कृतिकोदयस्योपलब्धि र्विद्यते अतोऽयं हेतुः अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतुः निगद्यते।

टीकार्थ—एक मुहूर्त के पहले ही भरणि का उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिका का उदय हो रहा है। यहाँ पर कृत्तिका उदय नाम का उत्तरचर हेतु भरणि के उदय हो चुके रूप साध्य को साधता है अर्थात् यहाँ भरणि के उदय हो चुकी अवस्था के अविरुद्धउत्तरचरकृत्तिका के उदय की उपलब्धि है इसलिए यह हेतु अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतु कहलाता है।

सरल व्याख्या—वही कृत्तिका नक्षत्र अपने पिछले वाले नक्षत्र की अपेक्षा उत्तरचर है। यहाँ साध्य भरणि नक्षत्र है। इसका उदय पूर्व में हुआ तभी तो अभी कृत्तिका का उदय चल रहा है। इसलिए कृत्तिका नक्षत्र का उदय यहाँ अविरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि रूप हेतु है।

तत एव-कृत्तिका का उदय होने से-यह साधन हेतु है।

भरणि का उदय हो चुका है-यह साध्य है।

अन्य उदाहरण—

१. अभवत् शनिवासरो रविवारोदयात्।

शनिवार हो चुका है आज रविवार होने से ।

२. शीतकालो विगतो ग्रीष्मकालात्।

शीतकाल चला गया है, ग्रीष्मकाल चलने से।

अविरुद्धसहचरोपलब्धि (सहचर हेतु) का उदाहरण—

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥६६॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** यहाँ **(मातुलिङ्गे)** बिजौरा/जिमरिया फल में **(रूपं)**

रूप **(अस्ति)** है **(रसात्)** रस होने से।

सूत्रार्थ—इस बिजौरे फल में रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है।

संस्कृतार्थ—अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्। अत्र रसनामकसहचरहेतुः रूपनामकसाध्यं साधयति। अर्थादत्र रूपाविरुद्धसहचरस्य रसस्योपलब्धिर्विद्यते। अतोऽयं हेतुः अविरुद्धसहचरोपलब्धिहेतुः प्रोच्यते।

टीकार्थ—इस बिजौरे फल में रूप है रस होने से। यहाँ रस नामक सहचर हेतु रूप नामक साध्य को साधता है। अर्थात् यहाँ रूप का अविरुद्धसहचर रस उसकी उपलब्धि है। इसलिए यह हेतु अविरुद्ध-सहचरोपलब्धिहेतु कहलाता है।

सरल व्याख्या—रूप और रस साथ-साथ पाए जाते हैं इसलिए यह विधि में अविरुद्ध सहचर उपलब्धि रूप हेतु का उदाहरण है।

रसात्–हेतु है।

रूपम् अस्ति–साध्य है।

अन्य उदाहरण—

१. अस्ति आत्मनि ज्ञानं दर्शनात्।
   आत्मा में ज्ञान है, दर्शन होने से।

२. अस्ति सर्वज्ञता केवलिनि केवलज्ञानात्।
   केवली भगवान में सर्वज्ञता है, केवलज्ञान होने से।

३. अस्ति कानने रामः लक्ष्मणसद्भावात्।
   जंगल में राम हैं लक्ष्मण होने से।

अब आचार्य विरुद्धोपलब्धि के भेद कहते हैं–

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥६७॥

अन्वयार्थ–(प्रतिषेधे) प्रतिषेधरूप में **(विरुद्धतदुपलब्धिः)** वह विरुद्धोपलब्धि **(तथा)** उसी प्रकार अर्थात् अविरुद्धोपलब्धि के समान छह भेद वाली है।

सूत्रार्थ—प्रतिषेध सिद्ध करने वाली विरुद्धोपलब्धि के भी ६ भेद हैं।

संस्कृतार्थ—प्रतिषेधसाधिकाया विरुद्धोपलब्धेः षड्भेदा विद्यन्ते। विरुद्धव्याप्योपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः विरुद्धकारणोपलब्धिः, विरुद्ध-पूर्वचरोपलब्धिः, विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिः विरुद्धसहचरोपलब्धिश्चेति।

टीकार्थ—प्रतिषेध को सिद्ध करने वाली विरुद्धोपलब्धि के भी ६ भेद हैं—१. विरुद्धव्याप्योपलब्धि, २. विरुद्धकार्योपलब्धि, ३. विरुद्धकारणोप-लब्धि, ४. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि, ५. विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि, ६.विरुद्ध-सहचरोपलब्धि। ये सभी हेतु प्रतिषेध के साधक हैं।

सरल व्याख्या—प्रतिषेध करने वाले वाक्यों में 'नास्ति' पद से उदाहरण का प्रयोग होता है। आगे के सूत्रों में दिखाया जायेगा कि विरुद्ध उपलब्धि के सभी वाक्य 'नास्ति' पद से प्रारम्भ होते है।

अविरुद्ध उपलब्धि की तरह यह विरुद्ध उपलब्धि भी छह प्रकार की होती है।

अब साध्य से विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतु को कहते हैं—

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(शीतस्पर्शः)** शीतस्पर्श **(नास्ति)** नहीं है **(औष्ण्यात्)** उष्णता होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता पाई जाती है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र शीतस्पर्शः औष्ण्यात्। अत्र प्रतिषेधरूपसाध्यात् शीतस्पर्शात् विरुद्धस्याग्नेः व्याप्यस्वरूप उष्णता विद्यते। यस्य व्याप्यं विद्यते तत्तदेव साधयिष्यति। इत्थमत्र शीतस्पर्शसाध्यविरुद्धः औष्ण्यत्वव्याप्यहेतुः व्यापकाग्निमेव साधयिष्यति। अतोऽयं हेतुर्विरुद्धव्याप्ययोपलब्धिहेतुः भवेत्।

टीकार्थ—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, उष्णता होने से। यहाँ पर प्रतिषेधरूप साध्य शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि की व्याप्य स्वरूप उष्णता विद्यमान है। जिसका व्याप्य विद्यमान है, वह उसी को साधेगा/जनावेगा अतएव यहाँ शीतस्पर्श साध्य के विरुद्ध उष्णतारूपव्याप्यहेतु व्यापकरूप-अग्नि को ही

साधेगा। इसलिए यह हेतु विरुद्धव्याप्योपलब्धिरूपहेतु है।

विशेषार्थ—यहाँ शीतस्पर्श प्रतिषेध्य है, उसकी विरोधी अग्नि है, उसकी व्याप्य उष्णता पाई जा रही है, अतः यह विरुद्धव्याप्योपलब्धिहेतु का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—औष्ण्यात्–हेतु है। शीत स्पर्श नहीं है–साध्य है।

यहाँ उष्णता हेतु व्याप्य है। शीत स्पर्श का विरुद्ध साध्य अग्नि है और उष्णता अग्नि में व्याप्य रहने वाला धर्म है। इसलिए यह हेतु विरुद्ध व्याप्य उपलब्धि का है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्त्यत्र ज्ञानं जडात्।

इसमें ज्ञान नहीं है, जड़ पदार्थ होने से।

२. नास्ति सिद्धे रूपममूर्तत्त्वात्।

सिद्ध भगवान् में रूप गुण नहीं है, अमूर्त होने से।

अब साध्य से विरुद्धकार्योपलब्धिहेतु को कहते हैं–

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥६९॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(शीतस्पर्शः)** शीतस्पर्श **(नास्ति)** नहीं है **(धूमात्)** धूम होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्। अत्र प्रतिषेधरूपसाध्यात् शीतस्पर्शात् विरुद्धस्याग्नेः कार्यस्वरूपो धूमः उपलभ्यते। अग्नेः कार्यं स्थित्त्वाग्निमेव साधयिष्यति नो शीतस्पर्शम्। अतोऽत्रायं धूमत्वहेतुर्विरुद्ध-कार्योपलब्धिहेतुर्भवेत्।

टीकार्थ—यहाँ पर शीतस्पर्श नहीं है धूम होने से। यहाँ पर प्रतिषेधरूप साध्य शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि का कार्यरूप धूम प्राप्त है, अग्नि का कार्य धूम रहकर अग्नि को ही जनावेगा, शीतस्पर्श को नहीं, इससे यहाँ यह धूमहेतु विरुद्धकार्योपलब्धिरूपहेतु होगा।

विशेषार्थ–यहाँ भी प्रतिषेध के योग्य साध्य जो शीतस्पर्श उसकी विरुद्ध जो अग्नि उसका कार्य धूम पाया जाता है, अतः यह विरुद्धकार्योप-लब्धिहेतु का उदाहरण है।

सरल व्याख्या–धूमात्–हेतु है। शीत स्पर्श नहीं है–साध्य है।

यहाँ शीत अग्नि के विरुद्ध है और अग्नि का कार्य धुँआ है इसलिए यह हेतु विरुद्ध कार्य उपलब्धि रूप है।

अन्य उदाहरण–

१. नास्ति अत्र प्राणिनि संक्लेशः प्रशस्तदर्शनात्।

इस प्राणी में संक्लेश नहीं है, प्रशस्त रूप का दर्शन होने से।

२. नास्ति अत्र दिवसो नक्तंचर–भ्रमणात्।

यहाँ दिन नहीं है क्योंकि रात्रि में चलने वाले जीव भ्रमण कर रहे हैं।

विरुद्धकारणोपलब्धि को कहते हैं–

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७०॥

अन्वयार्थ–(अस्मिन् शरीरिणि) इस प्राणी में **(सुखम्)** सुख **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(हृदयशल्यात्)** हृदय में शल्य होने से।

सूत्रार्थ–इस प्राणी में सुख नहीं है क्योंकि हृदय में शल्य पाई जाती है।

संस्कृतार्थ–नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्। अत्र सुख विरोधिनो दुःखस्य कारणं हृदयशल्यरूपहेतुः दुःखमेव साधयिष्यति, नो सुखम्। अतोऽत्रायं हृदयशल्यत्वहेतुः विरुद्धकारणोपलब्धिहेतुर्जातः।

टीकार्थ–इस प्राणी में सुख नहीं है, हृदय में शल्य होने से। यहाँ पर सुख का विरोधी दुःख का कारण हृदयशल्यरूपहेतु (मानसिक पीड़ा) दुःख को ही साधेगा सुख को नहीं। इसलिए यहाँ यह हृदयशल्यरूपहेतु विरुद्ध-कारणोपलब्धिरूपहेतु हुआ।

सरल व्याख्या–हृदयशल्यात्–हेतु है। सुख नहीं है–साध्य है।

सुख का विरुद्ध साध्य दुःख है। दुःख का कारण हृदय की शल्य होती

है। इसलिए यह हेतु विरुद्ध कारण उपलब्धि का है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्त्यत्र प्रकाशो निशोदयात्।

यहाँ प्रकाश नहीं है, निशा का उदय होने से।

२. नास्ति अस्मिन् शरीरिणि सम्यक्त्वं कुगुरुसेवनात्।

इस प्राणी में सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि कुगुरु की सेवा करता है।

३. नास्ति अस्मिन् देहिनि जीवनं हृदयाघातात्।

इस प्राणी में जीवन नहीं है, हृदयाघात हो जाने से।

अब विरुद्धोपूर्वचरोपलब्धिहेतु को कहते हैं–

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ॥७१॥

अन्वयार्थ—(मुहूर्त्तान्ते) एक मुहूर्त के पश्चात् **(शकटं)** रोहिणी **(न)** नहीं **(उदेष्यति)** उदित होगा **(रेवत्युदयात्)** रेवती का उदय होने से।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा क्योंकि अभी रेवतीनक्षत्र का उदय हो रहा है।

संस्कृतार्थ—नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्। अत्र शकटोदयाद् विरुद्धस्याश्विनीनक्षत्रपूर्वचरस्य रेवतीनक्षत्रस्योदयो विद्यते। स चाश्विनीनक्षत्र-पूर्वचरो वर्तते, अतएवाश्विनीनक्षत्रभावितामेव साधयिष्यति, शकटोदयञ्च निषेत्स्यति। अतोऽत्रायं रेवत्युदयत्वहेतुः विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिहेतुर्जातः।

टीकार्थ—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी उदित नहीं होगा, रेवती का उदय होने से। यहाँ रोहिणी के उदय से विरुद्ध अश्विनीनक्षत्र के पूर्वचर (पहले उदय होने वाला) रेवतीनक्षत्र का उदय है और वह अर्थात् रेवती का उदय अश्विनी नक्षत्र के उदय का पूर्वचर है, इसलिए रेवती का उदय, अपने से ठीक बाद उदय आने वाले अश्विनी नक्षत्र के उदय के होने को ही साधेगा और रोहिणी के उदय का निषेध करेगा क्योंकि रेवती, रोहिणी नक्षत्र से ठीक पूर्वचर नहीं है। इसलिए यहाँ यह रेवती उदय रूप हेतु विरुद्धपूर्वचरोप-लब्धिहेतु हुआ।

विशेषार्थ—नक्षत्रों के उदय का क्रम इस प्रकार है—रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य आदि।

सरल व्याख्या—रेवत्युदयात्—हेतु है। शकटं का उदय नहीं होगा—साध्य है। ध्यान रहे—रेवती का उदय अश्विनी से पहले होता है। चूँकि अश्विनी का पूर्वचर रेवती नक्षत्र है। इसलिए रेवती नक्षत्र का उदय विरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि रूप हेतु है।

अन्य उदाहरण—

१. न भविष्यति श्वः शनिवासरः सोमवासरसद्भावात्।

कल शनिवार नहीं होगा क्योंकि आज सोमवार है।

२. न भविष्यति मासान्ते आषाढः चैत्रसद्भावात्।

एक माह बाद आषाढ़ का महीना नहीं आएगा क्योंकि अभी चैत्र का महीना चल रहा है।

अब विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिहेतु को कहते हैं—

नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ॥७२॥

अन्वयार्थ—**(मुहूर्तात्पूर्वं)** एक मुहूर्त पहले **(भरणिः)** भरणि (न) नहीं **(उद्गात्)** उदित हुआ **(पुष्योदयात्)** पुष्य नक्षत्र का उदय होने से।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है, क्योंकि अभी पुष्यनक्षत्र का उदय पाया जा रहा है।

संस्कृतार्थ—नोद्गाद्भरणिः मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्। अत्र भरण्युदयात् विरुद्धस्य पुनर्वसूत्तरचरस्य पुष्यस्योदयो विद्यते। अर्थात् पुष्यनक्षत्रोदयः पुनर्वसुनक्षत्रोत्तरचरो वर्ततेऽतस्तस्यैवोदयं सूचयिष्यति यत् पुनर्वसूदयो भूतस्तथा च भूतभरण्युदयं निषेत्स्यति, अतोऽत्रायं पुष्योदयत्व हेतुः विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्जातः।

टीकार्थ—एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है क्योंकि पुष्यनक्षत्र का उदय हो रहा है। यहाँ पर भरणी के उदय से विरुद्ध पुनर्वसु के उत्तरचर (बाद में उदय आने वाला) पुष्यनक्षत्र का उदय हो रहा है। अर्थात्

पुष्यनक्षत्र का उदय पुनर्वसु का उत्तरचर है, इसलिए यह पुष्यनक्षत्र अपने से ठीक पहले उदय आने वाला जो पुनर्वसुनक्षत्र है उसके उदय को ही सूचित करेगा कि पुनर्वसु का उदय पहले हो चुका है तथा बहुत पहले उदय हो चुके भरणि के उदय का निषेध करेगा क्योंकि पुष्यनक्षत्र भरणी का ठीक उत्तरचर नहीं है। इसलिए यहाँ यह पुष्योदयरूपहेतु विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि हुआ।

सरल व्याख्या—पुष्योदयात्–हेतु है। भरणि का उदय नहीं हुआ– साध्य है। चूँकि पुनर्वसु नक्षत्र का उत्तरचर पुष्य नक्षत्र होता है इसलिए पुष्य नक्षत्र का उदय प्रासंगिक उदाहरण में विरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि रूप हेतु है।

अन्य उदाहरण—

१. नाभवत् दिवसात् प्राक् सोमवासरो बुधवासरात्।

एक दिन पहले (कल) सोमवार नहीं था क्योंकि आज बुधवार है।

२. नाभवत् मासात् प्राक् आषाढः कार्तिकसद्भावात्।

पिछले महीने आषाढ़ नहीं था क्योंकि अभी कार्तिक मास चल रहा है।

अब विरुद्धोसहचरोपलब्धिहेतु को कहते हैं–

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ॥७३॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** यहाँ **(भित्तौ)** दीवाल में **(परभागाभावः)** पीछे के भाग का अभाव **(नास्ति)** नहीं है **(अर्वाग्भागदर्शनात्)** आगे का भाग दिखाई देने से।

सूत्रार्थ—इस दीवाल में पीछे के भाग का अभाव नहीं है क्योंकि आगे का भाग दिखाई दे रहा है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्। अत्र परभागाभावाद् विरुद्धः परभागसद्भावसहचरोऽर्वाग्भागो दृश्यते। अर्थात्पर-भागसद्भावसहचरो विद्यतेऽतः सः परभागसद्भावमेव साधयिष्यति। अतोऽत्रायं अर्वाग्भागदर्शनत्वहेतुः विरुद्धसहचरोपलब्धिहेतुः जातः।

टीकार्थ—इस दीवाल में "पीछे के भाग" का अभाव नहीं है, "आगे का भाग" दिखने से। यहाँ पर "पीछे के भाग" के अभाव से विरुद्ध "पीछे

के भाग'' के सद्भाव का सहचर ''आगे का भाग'' दिखाई दे रहा है। अर्थात् ''पीछे के भाग'' के सद्भाव का सहचर ''आगे का भाग'' विद्यमान है। इसलिए वह ''आगे का भाग'' उस ''पीछे के भाग'' के सद्भाव को ही साधेगा। इसलिए यहाँ यह अर्वाग्भागदर्शनरूपहेतु विरुद्ध-सहचरोपलब्धिहेतु हुआ।

सरल व्याख्या—अर्वाग्भाग दर्शनात्-हेतु है। परभाग का अभाव नहीं है-साध्य है।

दीवाल के पर भाग के अभाव का विरोधी परभाग का सद्भाव है और उसका सहचारी दीवाल के इस ओर के भाग का पाया जाना है। इसलिए यह विरुद्ध सहचर उपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण -

१. नास्ति आत्मनि तैजसशरीराभावः कार्मणशरीर सद्भावात्।

इस आत्मा में तैजसशरीर का अभाव नहीं है, कार्मण शरीर होने से।

२. नास्ति सप्तर्षौ अधस्ताराभावः उपरिमतारोदयात्।

सप्तऋषि तारागण में नीचे वाले तारे का अभाव नहीं है क्योंकि ऊपर के तारे का सद्भाव है।

अब अविरुद्धानुपलब्धि के भेद को कहते हैं-

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा—
स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥७४॥

अन्वयार्थ—(प्रतिषेधे) अभाव को सिद्ध करने में **(अविरुद्धानुपलब्धिः)** अविरुद्धानुपलब्धि **(स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तर-सहचरानुपलम्भभेदात्)** स्वभावानुपलब्धि, व्यापकानुपलब्धि, कार्यानुपलब्धि, कारणानुपलब्धि, पूर्वचरानुपलब्धि, उत्तरचरानुपलब्धि, सहचरानुपलब्धि के भेद से **(सप्तधा)** सात भेद वाली है।

संस्कृतार्थ—अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिका जायते। तस्याः सप्त

भेदा विद्यन्ते। अविरुद्धस्वभावानुपलब्धिः अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिः अविरुद्ध-कार्यानुपलब्धिः अविरुद्धकारणानुपलब्धिः, अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धिः अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिः, अविरुद्धसहचरानुपलब्धिश्चेति।

टीकार्थ—प्रतिषेध अर्थात् अभाव को सिद्ध करने वाली अविरुद्धानु-लब्धि होती है उसके ७ भेद हैं—१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, २. अविरुद्ध-व्यापकानुपलब्धि, ३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि, ४. अविरुद्धकारणानुप- लब्धि, ५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि, ६. अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि, ७. अविरुद्ध-सहचरानुपलब्धि।

अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि का उदाहरण—

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥७५॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(भूतले)** पृथ्वीतल पर **(घटः)** घट **(नास्ति)** नहीं है **(अनुपलब्धेः)** उपलब्धि नहीं होने से।

सूत्रार्थ—इस भूतल पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि योग्य स्वभाव के होने पर भी वह नहीं पाया जा रहा है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः। अत्र घटप्राप्तिरूप-स्वभावस्य भूतलेऽभावो विद्यतेऽतः स घटाभावं साधयति। अर्थात् प्रतिषेधयोग्य-घटस्याविरुद्धस्वभावस्यानुपलम्भो वर्तते। अतोऽयमनुपलब्धित्वहेतुः अविरुद्ध-स्वभावानुपलब्धिहेतुः जातः।

टीकार्थ—इस भूतल पर घट नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं है। यहाँ पर घट के प्राप्त होने रूप स्वभाव का भूतल में अभाव है, इसलिए वह घट के अभाव को सिद्ध करता है। अर्थात् प्रतिषेध योग्य घट के अविरुद्धस्वभाव का अनुपलम्भ (अभाव) है। इसलिए यह अनुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्ध-स्वाभावानुपलब्धिहेतु हुआ।

विशेषार्थ—यहाँ पर पिशाच और परमाणु आदिक से व्यभिचार के परिहारार्थ ''उपलब्धि लक्षण प्राप्ति के योग्य होने पर'' भी, इतना विशेषण ऊपर से लगाना है। यदि कोई ऐसा कहे कि यहाँ पर भूतप्रेतादि नहीं हैं अथवा परमाणु नहीं हैं, क्योंकि उनकी अनुपलब्धि है। तो यह अनुपलब्धिरूप हेतु

व्यभिचारी अर्थात् सन्दिग्धानैकान्तिक है। संभव है कि वे भूत-पिशाचादि या परमाणु आदि यहाँ पर हों और उनका अदृश्य या सूक्ष्म स्वभाव होने से हमें उनकी उपलब्धि न हो रही हो। अतः इस प्रकार के व्यभिचार के दूर करने के लिए आचार्य ने उक्त विशेषण दिया है क्योंकि घट का स्वभाव उपलब्धि के योग्य है फिर भी वह घट यहाँ उपलब्ध नहीं हो रहा है। अतः यह अविरुद्ध-स्वभावानुपलब्धिरूप हेतु का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—यहाँ घट की अनुपलब्धि स्वभाव से है इसलिए अविरुद्ध स्वभाव अनुपलब्धि का यह उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्ति म्लेच्छखण्डे सम्मूर्च्छनमनुष्योऽनुपलब्धेः।

म्लेच्छखण्ड में सम्मूर्च्छन मनुष्य नहीं है, अनुपलब्ध होने से।

२. नास्त्यत्र नारकी अनुपलब्धेः।

यहाँ नारकी नहीं है, अनुपलब्ध होने से।

३. नास्त्यत्र सिंहोऽनुपलब्धेः।

यहाँ सिंह नहीं है अनुपलब्ध होने से।

अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतु को कहते हैं—

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥७६॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(शिंशपा)** शीशम **(नास्ति)** नहीं है **(वृक्षानुपलब्धेः)** वृक्ष की अनुपलब्धि होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ शीशम/सीसौन नहीं है क्योंकि उसका व्यापक वृक्ष का अभाव है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः। व्यापकवृक्षं विना व्याप्य स्वरूपा शिंशपा भवितुं नार्हति। अर्थादत्र व्यापकवृक्षानुपलब्धिः व्याप्यशिंशपा-प्रतिषेधं साधयति। अतोऽयं वृक्षानुपलब्धिहेतुः अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतुः सम्भूतः।

टीकार्थ—यहाँ शीशम/सीसौन नहीं है, वृक्ष की अनुपलब्धि होने से।

व्यापकरूप वृक्ष के बिना व्याप्यरूप शिंशपा हो नहीं सकता, अर्थात् यहाँ व्यापकवृक्षानुपलब्धि जो व्याप्यरूप शीशम उसके अभाव को सिद्ध करती है। इसलिए यह वृक्षानुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्धव्यापकानुपलब्धिहेतु प्राप्त हुआ।

सरल व्याख्या—वृक्ष—व्यापक है, शीशम व्याप्य है।

जब वृक्ष ही नहीं है, तो शीशम होगा ही नहीं इसलिए व्यापक का अभाव होने से व्याप्य का अभाव तो होगा ही। इसलिए यह हेतु अविरुद्ध व्यापक अनुपलब्धि का है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्ति अलोकाकाशे जीवद्रव्यं धर्म द्रव्यानुपलब्धेः।

आलोकाकाश में जीव द्रव्य नहीं है क्योंकि वहाँ धर्म द्रव्य की अनुपलब्धि है।

२. नास्ति गृहे गौः पशुसमूहानुपलब्धेः।

इस घर में गाय नहीं है क्योंकि पशु समूह की अनुपलब्धि है।

३. नास्ति क्षीरसमुद्रे द्वीन्द्रियजीवो विकलेन्द्रियानुपलब्धेः।

क्षीर समुद्र में द्वीन्द्रिय जीव नहीं हैं क्योंकि विकलेन्द्रिय जीवों की अनुपलब्धि है।

अब अविरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतु को कहते हैं—

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥७७॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** यहाँ **(अप्रतिबद्धसामर्थ्यः)** अबाधितसामर्थ्य वाली **(अग्निः)** अग्नि **(नास्ति)** नहीं है **(धूमानुपलब्धेः)** धूम/धुँआ उपलब्धि नहीं होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ पर अबाधितसामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम नहीं पाया जाता है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः। अत्र सामर्थ्य-वतोऽग्नेरविरुद्धकार्यस्य धूमस्याभावो विद्यते, अतश्च प्रतीयते यदत्राग्निर्नास्ति, अस्ति चेद् भस्मादिभिराच्छन्नो विद्यते। एवमत्रायं धूमानुप-लब्धित्वहेतुः

अविरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतुः विज्ञेयः।

टीकार्थ—यहाँ पर अबाधित सामर्थ्य वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धुआँ नहीं पाया जाता है। यहाँ सामर्थ्यवान अग्नि के अविरुद्ध कार्य धूम का अभाव है, इसलिए ज्ञात होता है कि यहाँ अग्नि नहीं है अगर है भी तो भस्म वगैरह से ढकी हुई है। इससे यहाँ धूमानुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्धकार्यानुप- लब्धिरूपहेतु जानना चाहिए।

सरल व्याख्या—अप्रतिबद्ध सामर्थ्य–जिसकी शक्ति को बाँधा न गया हो अर्थात् जो अपना कार्य करने में समर्थ हो।

जिस अग्नि को मन्त्र आदि की सामर्थ्य से अथवा राख आदि से नहीं दबाया गया है, ऐसी अग्नि यहाँ नहीं है क्योंकि अग्नि का अविरुद्धकार्य (सीधा कार्य) धूम नहीं पाया जाता है। इसलिए यह अविरुद्ध कार्य अनुपलब्धि का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्ति अस्मिन्नात्मनि सम्यग्दर्शनं प्रशमादिभावानुपलब्धेः।

इस आत्मा में सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि प्रशम आदि भावों की अनुपलब्धि है।

२. नास्ति अस्मिन्नात्मनि शुद्धोपयोगो रत्नत्रयानुपलब्धेः।

इस आत्मा में शुद्धोपयोग नहीं है क्योंकि रत्नत्रय की अनुपलब्धि है।

अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु को कहते हैं—

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥७८॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** यहाँ **(धूमः)** धुआँ **(नास्ति)** नहीं है **(अनग्नेः)** अग्नि के नहीं होने से।

सूत्रार्थ—यहाँ पर धूम नहीं है, क्योंकि धूम के अविरोधी कारण अग्नि का अभाव है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः। अत्र धूमस्याविरुद्धकारणस्याग्नेर-

भावोधूमाभावं साधयति। अतोऽयम् अनग्नित्वहेतुः अविरुद्धकारणानुपलब्धिहेतुः जातः।

टीकार्थ—यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है। यहाँ पर धूम के अविरुद्धकारण अग्नि का अभाव धूम के अभाव को सिद्ध करता है। इसलिए यह अनग्नित्वरूपहेतु अविरुद्धकारणानुपलब्धि हुआ।

सरल व्याख्या—धुँए का अविरोधी कारण अग्नि होती है। अर्थात् अग्नि कारण से धुँए की उत्पत्ति होती है। इस अविरोधी कारण की उपलब्धि नहीं होने से यह अविरुद्ध कारण अनुपलब्धि का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. नास्त्यस्मिन्नात्मनि सम्यग्दर्शनं तत्त्वश्रद्धानानुपलब्धेः

इस आत्मा में सम्यग्दर्शन नहीं है क्योंकि तत्त्व श्रद्धान की अनुपलब्धि है।

२. नास्ति श्रमणेऽस्मिन् रत्नत्रयं महाव्रतानुपलब्धेः।

इस श्रमण में रत्नत्रय नहीं है क्योंकि महाव्रत की अनुपलब्धि है।

३. नास्ति मनुष्येऽस्मिन् संयमः पापविरतेरनुपलब्धेः।

इस मनुष्य में संयम नहीं है क्योंकि पाप विरति की अनुपलब्धि है।

अब अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु को कहते हैं–

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥७९॥

अन्वयार्थ—**(मुहूर्त्तान्ते)** एक मुहूर्त के बाद **(शकटं)** रोहिणीनक्षत्र **(न)** नहीं **(भविष्यति)** होगा **(कृत्तिकोदयानुपलब्धेः)** कृत्तिकानक्षत्र के उदय की उपलब्धता नहीं होने से।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त के पश्चात् रोहिणी का उदय नहीं होगा, क्योंकि कृत्तिका के उदय की अनुपलब्धि है।

संस्कृतार्थ—न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं, कृतिकोदयानुपलब्धेः। अत्र शकटोदयादविरुद्धस्य पूर्वचरस्य कृतिकोदयस्याभावो मुहूर्त्तान्ते शकटो–दयाभावं साधयति। अतोऽयं कृतिकोदयानुपलब्धित्वहेतुः अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि–

हेतुर्जातः।

टीकार्थ—एक मुहूर्त के बाद रोहिणी उदित नहीं होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है। यहाँ रोहिणी के उदय के अविरुद्धपूर्वचर- कृत्तिका के उदय का अभाव एक मुहूर्त बाद रोहिणी के उदय के अभाव को सिद्ध करता है। इसलिए यह कृतिकोदयानुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्धपूर्वचरानुप-लब्धि-हेतु हुआ।

सरल व्याख्या—चूँकि रोहिणी नक्षत्र के उदय से पूर्व कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है। पूर्वचर हेतु कृत्तिका के उदय का अभाव होने से उसके बाद आने वाले रोहिणी के उदय का अभाव इस उदाहरण में दिखाया गया है इसलिए यह अविरुद्ध पूर्वचर अनुपलब्धि हेतु का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. कल सोमवार नहीं होगा आज रविवार की अनुपलब्धि होने से।

२. आगामी मास मार्च नहीं होगा वर्तमान में फरवरी मास की अनुपलब्धि होने से।

अब अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धिहेतु का उदाहरण कहते हैं—

नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्प्राक्तत एव ॥८०॥

अन्वयार्थ—**(मुहूर्त्तात्)** एक मुहूर्त से **(प्राक्)** पहले **(भरणिः)** भरणी **(न)** नहीं **(उद्गात्)** उदित हुआ **(ततः)** उस अवस्था में कृत्तिका का उदय नहीं होने से **(एव)** ही।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त पहले भरणि का उदय नहीं हुआ है क्योंकि उत्तरचर कृत्तिका का उदय नहीं पाया जाता।

संस्कृतार्थ—नोद्गात् भरणिः मुहूर्तात्प्राक् तत एव। अत्र भरण्युदयात् अविरुद्धत्तरोचरस्य कृत्तिकोदयस्य अभावो भरण्युदयभूतताऽभावं साधयति। अतोऽयं कृतिकोदयानुपलब्धित्वहेतुः अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धिहेतुः जातः।

टीकार्थ—एक मुहूर्त पहले भरणी उदित नहीं हुआ है क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं है। यहाँ पर भरणी के उदय के अविरुद्ध उत्तरचर

कृत्तिका के उदय का अभाव, भरणी के उदय हो चुकी अवस्था के अभाव को सिद्ध करता है, अर्थात् भरणी का उदय अभी नहीं हुआ है यह सिद्ध करता है इसलिए यह कृतिकोदयानुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि-रूपहेतु है।

सरल व्याख्या—चूँकि भरणि के बाद कृत्तिका का उदय होता है। साध्य—भरणि का उदय नहीं हुआ है। हेतु—कृत्तिका के उदय का अभाव होने से।

यहाँ उत्तरचर हेतु कृत्तिका के उदय का अभाव हेतु दिखाकर उससे पहले होने वाले भरणि के उदय का अभाव सिद्ध किया है इसलिए यह अविरुद्ध उत्तरचर अनुपलब्धि का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. कल शनिवार नहीं था आज रविवार की उपलब्धि नहीं होने से।

२. एक मास पहले जनवरी नहीं निकली है क्योंकि फरवरी की वर्तमान में अनुपलब्धि है।

अब अविरुद्धसहचरानुपलब्धिरूपहेतु को कहते हैं—

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८१॥

अन्वयार्थ—(अत्र) यहाँ **(समतुलायाम्)** तराजू में **(उन्नामः)** ऊँचाई **(नास्ति)** नहीं है **(नामानुपलब्धेः)** नीचापन उपलब्ध नहीं होने से।

सूत्रार्थ—इस तराजू में एक ओर ऊँचापना नहीं है, क्योंकि उन्नाम का अविरोधिसहचर दूसरी ओर नीचापन नहीं पाये जाने से।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः। अत्र उन्नामाद् अविरुद्धसहचरस्य नामस्याभावः उन्नामस्याभावं साधयति। अतोऽयं नामानुप-लब्धित्वहेतुः अविरुद्धसहचरानुपलब्धिहेतुर्जातः।

टीकार्थ—इस तराजू में ऊँचापना नहीं है, क्योंकि नीचेपन का अभाव है। यहाँ पर ऊँचेपने का अविरुद्धसहचर नीचेपन का अभाव ऊँचेपने के

अभाव को सिद्ध करता है, इसलिए यह नामानुपलब्धिरूपहेतु अविरुद्ध-सहचरानुपलब्धिहेतु हुआ।

सरल व्याख्या—हेतु-नाम उपलब्ध नहीं होने से।

साध्य-उन्नाम का तराजू में अभाव।

तराजू के एक पलड़े में ऊँचापन नहीं है क्योंकि नीचे की ओर दूसरे पलड़े की उपलब्धि नहीं है। यहाँ हेतु साध्य के सहचर है। तराजू के दोनों पलड़े सहचर होते हैं तथा उन्नाम दशा नहीं होने से नाम (नीचापन) की दशा भी उपलब्धि नहीं होगी इसलिए यह अविरूद्ध सहचर अनुपलब्धि का उदाहरण है।

इसी तरह अन्य उदाहरण भी बना सकते है-यथा-

१. नास्ति अस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः।

इस आत्मा में सम्यग्ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होने से।

२. नास्ति अस्मिन्नात्मनि केवलज्ञानं केवलदर्शनानुपलब्धेः।

इस आत्मा में केवलज्ञान नहीं है, केवलदर्शन की अनुपलब्धि होने से।

३. नास्ति धर्मद्रव्ये रूपं रसानुपलब्धेः।

धर्म द्रव्य में रूप नहीं है, रस की अनुपलब्धि होने से

४. नास्ति पुद्गले ज्ञानं चेतनानुपलब्धेः।

पुद्गल में ज्ञान नहीं है, चेतना की अनुपलब्धि होने से।

५. नास्ति तीर्थंकरे रोगोऽसात कर्मोदीरणानुपलब्धेः।

तीर्थंकर में रोग नहीं है, असाता कर्म की उदीरणा की अनुपलब्धि होने से।

अब विरुद्धकार्यानुपलब्धि आदि हेतु विधि में सम्भव हैं अर्थात् सद्भाव के साधक हैं और उसके भेद तीन ही हैं यह प्रदर्शित करने के लिए आचार्य सूत्र कहते

हैं–

विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा–
विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८२॥

अन्वयार्थ–(विधौ) विधि के सिद्ध करने में **(विरुद्धानुपलब्धिः)** विरुद्धानुपलब्धि **(विरुद्धकार्य-कारण-स्वभावानुपलब्धि)** विरुद्ध-कार्यानुप-लब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि के भेदात् से **(त्रेधा)** तीन प्रकार है।

सूत्रार्थ–विधि के अस्तित्व को सिद्ध करने में विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद हैं–१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि, २. विरुद्धकारणानुपलब्धि, ३. विरुद्ध-स्वभावानुपलब्धि।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ–साध्य से विरुद्ध, पदार्थ के कार्य का नहीं पाया जाना **विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतु** है। साध्य से विरुद्ध, पदार्थ के कारण का नहीं पाया जाना **विरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु** है। साध्य से विरुद्ध, पदार्थ के स्वभाव का नहीं पाया जाना **विरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतु** है। ये तीनों ही हेतु अपने साध्य के सद्भाव को सिद्ध करते हैं, इसलिए विधि साधक कहे गये हैं।

सरल व्याख्या–विरुद्ध अनुपलब्धि 'विधि' [सकारात्मक] वाक्यों में होती है।

इस हेतु के उदाहरण की पहचान यह है कि–

१. वाक्य का प्रारम्भ 'अस्ति' पद से या सद्भाव बताने से होगा।

२. हेतु में 'अनुपलब्धि' शब्द जुड़ा होगा।

अब विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतु के उदाहरण को कहते हैं–

यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति, निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥८३॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(अस्मिन्प्राणिनि)** इस प्राणी में **(व्याधि-**

विशेषः) रोग विशेष **(अस्ति)** है **(निरामयचेष्टानुपलब्धेः)** रोग रहित प्रवृत्ति की उपलब्धि नहीं होने से।

सूत्रार्थ—इस प्राणी में व्याधि-विशेष है क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं पाई जाती है।

संस्कृतार्थ—अस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुप-लब्धेः। अत्र व्याधिविशेष-सद्भावसाध्याद् विरोधिनो व्याधिविशेषाभावस्य कार्यस्य नीरोगचेष्टायाः अनुपलब्धिः विद्यते। अतोऽयं निरामयचेष्टानुप-लब्धित्वहेतुः विरुद्धकार्यानुपलब्धिहेतुर्जातः।

टीकार्थ—इस प्राणी में व्याधि विशेष है, निरामय चेष्टा नहीं होने से। यहाँ पर व्याधि विशेष के सद्भावरूप साध्य से विरोधि व्याधिविशेष के अभाव के कार्य नीरोग चेष्टा की अनुपलब्धि है। इसलिए यह निरामय-चेष्टानुपलब्धिरूपहेतु विरुद्धकार्यानुपलब्धिरूपहेतु हुआ।

सरल व्याख्या—हेतु-निरामय चेष्टा की अनुपलब्धि है। साध्य-व्याधि विशेष है। जिस प्राणी में व्याधि विशेष रहती है, उस प्राणी के कार्यकलाप स्वस्थ व्यक्ति की तरह नहीं होते हैं।

व्याधि विशेष का विरुद्ध कार्य निरामय चेष्टा का अभाव है इसलिए अथवा व्याधि के विरुद्ध स्वस्थता है उसका कार्य स्वस्थ चेष्टा है। उसकी अनुपलब्धि (अभाव) होने से यह विरुद्ध कार्य अनुपलब्धि का उदाहरण है।

अन्य उदाहरण—

१. अस्मिन् देवे कामनाऽस्ति सन्तुष्टेरनुपलब्धेः।

इस देव में इच्छा है, सन्तुष्टि की अनुपलब्धि होने से।

२. अस्मिन् प्राणिनि संयमोऽस्ति प्रमादानुपलब्धेः।

इस प्राणी में संयम है, प्रमाद की अनुपलब्धि होने से।

३. अस्मिन् देहिनि संयत ज्ञान मस्ति अनर्थभाषणानुपलब्धेः।

इस प्राणी में संयत ज्ञान है, अनर्थ भाषण की अनुपलब्धि होने से।

अब विरुद्धकारणानुपलब्धिहेतु को कहते हैं–

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥८४॥

अन्वयार्थ–(अत्र) यहाँ **(देहिनि)** प्राणि में **(दुःखम्)** दुःख **(अस्ति)** है **(इष्टसंयोगाभावात्)** इष्टसंयोग के अभाव होने से।

सूत्रार्थ–इस प्राणी में दुःख है क्योंकि इष्ट संयोग का अभाव है।

संस्कृतार्थ–अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात्। अत्र दुःख-विरोधिनः सुखकारणस्येष्टसंयोगस्याभावो दुःखसद्भावमेव साधयति। अतोऽत्रायम् इष्टसंयोगाभावत्वहेतुः विरुद्धकारणानुपलब्धिहेतुरवगन्तव्यः।

टीकार्थ–इस प्राणी में दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग का अभाव है। यहाँ पर दुःख के विरोधी सुख का कारण इष्टसंयोग का अभाव दुःख के सद्भाव को ही सिद्ध करता है, इसलिए यहाँ यह इष्टसंयोगाभावरूपहेतु विरुद्धकारणानुपलब्धिरूपहेतु जानना चाहिए।

सरल व्याख्या–हेतु–इष्ट संयोग का अभाव। साध्य–दुःख होना।

अब विरुद्धस्वभावानुपलब्धिरूपहेतु का उदाहरण कहते हैं–

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ॥८५॥

अन्वयार्थ–(वस्तु) वस्तु **(अनेकान्तात्मकं)** अनेक धर्मस्वरूप वाली है **(एकान्तस्वरूपानुपलब्धेः)** एकान्तस्वरूप की उपलब्धि न होने से।

सूत्रार्थ–वस्तु अनेकान्तात्मक है अर्थात् अनेक धर्म वाली है, क्योंकि वस्तु का एकान्तरूप नहीं पाया जाता।

संस्कृतार्थ–अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः। अत्रा-नेकान्तात्मकताया विरुद्धः एकान्तात्मकताया अभावो वस्तुनो-ऽनेकान्तात्मकतामेव साधयति। अतोऽत्रायं एकान्तस्वरूपानुपलब्धिहेतुः विरुद्धस्वभावानुपलब्धिहेतुः प्रत्येतव्यः।

टीकार्थ–अनेकान्तात्मक अर्थात् पदार्थ अनेक धर्म वाले हैं, क्योंकि उनमें नित्य आदि एकान्त स्वरूप का अभाव है। यहाँ अनेकान्तात्मकता के विरुद्ध एकान्तात्मकता का अभाव वस्तु के अनेकान्तात्मकस्वरूप को ही

सिद्ध करता है। इसलिए यहाँ यह एकान्तस्वरूपानुपलब्धिरूपहेतु विरुद्ध-स्वभावानुपलब्धिरूपहेतु का उदाहरण जानना चाहिए है।

यहाँ पर कोई कहता है कि व्यापक विरुद्धकार्यादि हेतु और परम्परा से अविरोधी हेतुओं का पाया जाना बहुलता से संभव है। आचार्यों ने उनके उदाहरण क्यों नहीं दिए ? आचार्य उनकी शंका का समाधान करते हुए सूत्र कहते हैं–

परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥८६॥

अन्वयार्थ–(परम्परया) परम्परा से **(संभवत्)** संभव **(साधनम्)** साधन को **(अत्रैव)** इनमें ही **(अन्तर्भावनीयम्)** अन्तर्भाव करना चाहिए।

सूत्रार्थ–परम्परा से जो साधनरूप हेतु सम्भव हैं, उनका इन्हीं हेतुओं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

संस्कृतार्थ–गुरुपरम्परयासम्भवन्ति भिन्नानि साधनानि पूर्वोक्त साधनेष्वेवान्तर्भावनीयानि।

टीकार्थ–गुरु परम्परा से और भी जो साधन/हेतु सम्भव हो सकते हैं उनका पूर्वोक्त साधनों/हेतुओं में ही अन्तर्भाव करना चाहिए।

सरल व्याख्या–किसी भी कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। कोई भी कार्य निरन्तर आगे बढ़ते हुए क्रम से पूर्णता को प्राप्त होता है। उस क्रम में बीच में जो पर्यायें आती हैं वे सभी अन्तिम पर्याय के लिए परम्परा कारण होती हैं।

उन सभी परम्परा रूप हेतुओं का अन्तर्भाव पहले बताए गए इन्हीं हेतुओं में होता है। हेतुओं के अन्य कोई और अधिक भेदों की आवश्यकता न है और न हो सकते हैं।

आगे उदाहरण देकर इसी बात को और स्पष्ट करते हैं।

उसी साधन के उपलक्षण के लिए दो उदाहरण दिखलाते हैं–

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ॥८७॥

अन्वयार्थ–(अत्र) यहाँ **(चक्रे)** चाक पर **(शिवकः)** शिवक **(अभूत्)** हो गया है **(स्थासात्)** स्थास होने से।

सूत्रार्थ—इस चाक पर शिवक हो गया है, क्योंकि स्थास पाया जा रहा है।

संस्कृतार्थ—अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्। अत्र स्थासरूपहेतुः परम्परया शिवककार्यं विद्यते, साक्षान्नो, साक्षात्कार्यं तु छत्रकं विद्यते। एवमत्रायं स्थासादिति हेतुः कार्यकार्यहेतुर्विद्यते।

टीकार्थ—इस चाक पर शिवक हो गया है, क्योंकि स्थास मौजूद है। यहाँ पर स्थासरूप हेतु परम्परा से शिवक का कार्य है, साक्षात् नहीं, साक्षात् कार्य तो छत्रक है इस प्रकार यहाँ यह ''स्थासादिति'' हेतु (स्थासात्) कार्य-कार्य हेतु हुआ।

विशेषार्थ—जब कुंभकार घड़े को बनाता है, तब घड़ा बनने से पहले शिवक, छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायें होती हैं, तब अन्त में घड़ारूप पर्याय उत्पन्न होती है। उनमें सबसे पहले कुम्भकार मिट्टी के पिण्ड को चाक पर रखता है, उस पिण्डाकारपर्याय का नाम शिवक है, उसके पश्चात् होने वाली पर्याय का नाम छत्रक है और उसके पश्चात् होने वाली पर्याय का नाम स्थास है इसी व्यवस्था को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने उदाहरण प्रस्तुत किया है कि इस चाक पर शिवकरूप पर्याय हो चुकी है क्योंकि अभी स्थासरूप पर्याय विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि शिवक का कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है, अतः यह स्थास शिवक के कार्य का परम्परा से कार्य है, साक्षात् नहीं, क्योंकि साक्षात् कार्य तो छत्रक है।

सरल व्याख्या—सबसे पहले कुम्भकार मिट्टी के लौंदे को जब चाक पर रखता है तो उस पिण्डाकार पर्याय को **शिवक** कहते हैं। फिर उसी के आगे वह पिण्ड **छत्रक** के रूप में बदल जाता है। फिर उसके आगे होने वाली पर्याय **स्थास** कहलाती है।

उदाहरण में कहा गया है कि शिवक पर्याय हो चुकी है क्योंकि स्थास पर्याय अभी बनी है। यहाँ स्थास और शिवक के बीच में एक पर्याय छत्रक की और है। शिवक का कार्य छत्रक और छत्रक का कार्य स्थास पर्याय है।

इसलिए स्थास के लिए शिवक परम्परा से कार्य हेतु हुआ तथा शिवक का साक्षात् कार्य तो छत्रक है।

इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी समझना–

१. अभूदत्र दधि घृतात्

इस दूध में दही हो चुका है, घृत बन जाने से।

२. अत्रात्मनि अभवत् क्षयोपशमलब्धिः करणलब्धेः।

इस आत्मा में क्षयोपशम लब्धि हो चुकी है क्योंकि अभी करण लब्धि है।

३. अस्मिन् आत्मनि शुभोपयोगोऽभवत् केवलज्ञानात्।

इस आत्मा में शुभोपयोग हुआ है, केवलज्ञान होने से।

४. अस्मिन् आत्मनि प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानपरिणतिरभवत् सयोगि-गुणस्थानात्।

इस आत्मा में प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान की परिणति हुई है क्योंकि सयोगि गुणस्थान में है।

इन सभी परम्परा कार्यों का अन्तर्भाव किस हेतु में होगा यह आगे बताते हैं।

अब उक्त हेतु की क्या संज्ञा है और किस हेतु में उसका अन्तर्भाव होता है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥८८॥

अन्वयार्थ–(कार्यकार्यम्) 'कार्य का कार्यरूप' हेतु **(अविरुद्ध-कार्योपलब्धौ)** अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्निहित है।

सूत्रार्थ–कार्य के कार्यरूपहेतु–परम्पराकार्यहेतु का अविरुद्ध-कार्योप-लब्धि में अन्तर्भाव होता है।

संस्कृतार्थ–कार्यकार्य/परम्पराकार्य-रूपहेतुरविरुद्धकार्योपलब्धि-हेतावन्तर्भवति।

टीकार्थ—कार्यकार्यरूप हेतु का अविरुद्धकार्योपलब्धि में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विशेषार्थ—उक्त उदाहरण में शिवक का कार्य छत्रक है और उसका कार्य स्थास है, इस प्रकार यह स्थास शिवक के कार्य का अविरोधी कार्य होने से परम्परा से अविरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भूत होता है।

सरल व्याख्या—पूर्वोक्त सूत्र में दिये गए उदाहरण में कार्य के भी कार्य रूप हेतु का अन्तर्भाव अविरुद्ध कार्योपलब्धि में कर लेना चाहिए।

चूँकि शिवक का अविरुद्ध कार्य छत्रक है और छत्रक का अविरुद्ध कार्य स्थास है इसलिए स्थास अविरुद्ध कार्य रूप हेतु है, शिवक के लिए। क्योंकि शिवक के बिना स्थास कार्य नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लेना।

अब आचार्य दृष्टान्त द्वारा परम्पराहेतु का दूसरा उदाहरण देते हैं–

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं, मृगारिसंशब्दनात्।
कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ॥८९॥

अन्वयार्थ—**(अत्र)** इस **(गुहायां)** गुफा में **(मृगक्रीडनम्)** मृगक्रीड़ा **(नास्ति)** नहीं है **(मृगारिसंशब्दनात्)** सिंह का गर्जन होने से यह **(कारण-विरुद्धकार्यं)** कारणविरुद्धकार्यरूपहेतु **(विरुद्धकार्योपलब्धौ)** विरुद्ध-कार्योपलब्धि में अन्तर्भूत है **(यथा)** जैसे कारणविरुद्धकार्यरूप हेतु का विरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्भाव है वैसे कार्यकार्यरूपहेतु का अविरुद्धकार्योप-लब्धि में अर्न्तभाव है।

संस्कृतार्थ—नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात्। अत्र कारणविरुद्धकार्यं विद्यते। अर्थान्मृगक्रीडाकारणमृगस्य विरोधिनः सिंहस्य शब्दरूपं कार्यमुपलभ्यते, अतोऽत्रायं हेतुः विरुद्धकार्योपलब्धिहेतुर्विज्ञेयः। तथा च यथा कारणविरुद्धकार्योपलब्धिर्विरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवति तथैव कार्यकार्यहेतुरपि अविरुद्धकार्योपलब्धावन्तर्भवतीति भावः।

टीकार्थ—इस गुफा में मृगक्रीड़ा नहीं है, सिंह की गर्जना होने से, यहाँ

पर कारणविरुद्धकार्य है अर्थात् मृगक्रीड़ा का कारण मृग के विरोधी सिंह का शब्दरूप कार्य पाया जाता है इसलिए यहाँ यह हेतु विरुद्धकार्योप-लब्धिरूपहेतु जानना चाहिए और जैसे कारणविरुद्धकार्योपलब्धि विरुद्धकार्योपलब्धि में अन्तर्निहित है उसी प्रकार कार्य-कार्यरूपहेतु भी अविरुद्धकार्योपलब्धिरूपहेतु में अन्तर्निहित है, यह भाव है।

सरल व्याख्या—वस्तुतः यह सूत्र पूर्व सूत्र में सिद्ध की गई अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि को समझाने के लिए उदाहरण के रूप में है।

उदाहरण–इस गुफा में मृग की क्रीड़ा नहीं है। [साध्य], क्योंकि मृग की क्रीड़ा का कारण मृग है और मृग का विरोधी [अथवा विरुद्ध] सिंह है, सिंह का कार्य उसकी गर्जना है। इसलिए यह उदाहरण विरुद्ध कार्य उपलब्धि का है।

इस परम्परा साधन को जैसे विरुद्ध कार्य उपलब्धि हेतु में अन्तर्भाव किया है वैसे ही पूर्व सूत्र में कहे परम्परा से अविरुद्ध कार्य (कार्य-कार्य) हेतु को भी अविरुद्ध कार्य-उपलब्धि में अन्तर्भावित कर लेना चाहिए।

अब यहाँ पर कोई कहता है कि बालव्युत्पत्ति के लिए अनुमान के पाँचों अवयवों का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा आपने कहा, परन्तु व्युत्पन्नपुरुषों के प्रति प्रयोग का क्या नियम है ? इसका समाधान देते हैं–

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ॥९०॥

अन्वयार्थ—(व्युत्पन्नप्रयोगः) व्युत्पन्नप्रयोग–विद्वान् पुरुषों के लिए प्रयोग **(तु)** तो **(तथोपपत्त्या)** तथोपपत्ति के द्वारा **(वा)** अथवा **(अन्यथानुप-पत्त्या)** अन्यथानुपपत्ति के द्वारा **(एव)** ही है।

सूत्रार्थ—व्युत्पन्नपुरुषों के लिए तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति नियम से ही प्रयोग करना चाहिए।

संस्कृतार्थ—व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्या, अन्यथानुपपत्त्यैव वा विधेयः।

टीकार्थ—विद्वान् पुरुषों के लिए तथोपपत्ति के द्वारा अथवा अन्यथानुप-पत्ति के द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

विशेषार्थ—साध्य के सद्भाव में साधन का सद्भाव होना **तथोपपत्ति** और साध्य के अभाव में साधन का न होना **अन्यथानुपपत्ति** कहलाती है।

सरल व्याख्या—व्युत्पन्न [विद्वान्] पुरुषों के द्वारा साध्य सिद्धि में जो प्रयोग किया जाता है, वह व्युत्पन्न प्रयोग कहलाता है।

पहले हेतु के जितने भी भेद बतलाकर आये हैं, वे सभी हेतु इन दो भेदों में ही समा जाते हैं। फिर भी बाल [मन्द] बुद्धि वालों के लिए उपर्युक्त भेद जानना आवश्यक है। उन हेतुओं का प्रयोग करने लग जाने से ही व्युत्पन्न बुद्धि बनती है।

व्युत्पन्न प्रयोग दो प्रकार का है—**१. तथोपपत्ति हेतु**—एक तरह से इसमें अन्वय व्याप्ति दिखाई जाती है। साध्य के होने पर साधन का होना तथोपपत्ति है। **२. अन्यथानुपपत्ति हेतु**—अन्यथा+अनुपपत्ति=अन्यथा उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसमें व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई जाती है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना अन्यथानुपपत्ति है।

अब व्युत्पन्नप्रयोग की उदाहरण द्वारा पुष्टि—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ॥९१॥

अन्वयार्थ—(अयम्) यह **(देशः)** देश **(अग्निमान्)** अग्निवाला है **(तथैव)** उस प्रकार ही **(धूमवत्त्वोपपत्तेः)** धूमवानपने की प्राप्ति संभव होने से **(वा)** अथवा **(धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः)** धूमवानपने की अन्य प्रकार से प्राप्ति असंभव होने से।

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्निवाला है क्योंकि अग्निवाला होने पर ही धूमवाला हो सकता है अथवा अग्नि के अभाव में धूमवाला हो नहीं सकता।

संस्कृतार्थ—अग्निमानयं देशः, अग्निमत्त्वे सत्येव धूमवत्वोपपत्तेः अग्निमत्त्वाभावे धूमवत्त्वानुपपत्तेश्च। व्युत्पन्नायैवमेव प्रयोगो विधेयः। दृष्टान्तेनानेन दृढ़ीकृतं यद्व्युत्पन्नायोदाहरणादीनां प्रयोगस्यावश्यकता नो विद्यते।

टीकार्थ—यह देश अग्निवाला है, अग्निमान होने पर ही धूमवानपने की प्राप्ति होने से और अग्निपने के अभाव में धूमवानपने की अप्राप्ति होने से। व्युत्पन्नों के लिए इस प्रकार ही प्रयोग करना चाहिए। इस दृष्टान्त के द्वारा

यह दृढ़ किया गया है कि विद्वानों के लिए उदाहरण आदि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ—यह प्रदेश अग्निवाला है क्योंकि अग्नि के सद्भाव में ही यह धूमवाला हो सकता है अथवा अग्नि के अभाव में यह धूमवाला हो ही नहीं सकता, इसलिए इसमें अवश्य अग्नि है, इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। जो न्याय शास्त्र में व्युत्पन्न/प्रवीण हैं, उनके लिए अनुमान का प्रयोग प्रतिज्ञा के साथ तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु से ही करना चाहिए क्योंकि उनके लिए उदाहरणादिक शेष अवयवों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

सरल व्याख्या—व्युत्पन्न (प्रवीण) पुरुष इस तरह प्रयोग करते हैं कि वे प्रतिज्ञा वाक्य के साथ ही तथोपपत्ति या अन्यथानुपपत्ति कहकर अनुमान सिद्ध कर देते हैं।

जैसे यह प्रदेश अग्निवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अग्निवाला होने पर ही धूमवाला होता है (हेतु) इसमें अन्वय व्याप्ति घटित हुई अथवा इसको दूसरी तरह से इस प्रकार भी कह सकते हैं–यह प्रदेश अग्निवाला है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अग्निवाला नहीं होने पर धूम वाला अन्यथा हो नहीं सकता है। (हेतु) इसमें व्यतिरेक व्याप्ति घटित हुई।

सूत्र में आया 'तथैव' पद अन्वय व्याप्ति में साध्य का सद्भाव (जैसे अग्निवाला होने पर) दिखाता है तथा व्यतिरेक व्याप्ति में साध्य का अभाव (जैसे अग्नि वाला नहीं होने पर) दोनों को बताता है।

अन्य उदाहरण—

अन्यथानुपपत्ति के कुछ उदाहरण आ. जयसेन देव ने समयसार के आस्रवाधिकार गाथा १०५,१०६ की टीका करते हुए पक्ष, हेतु के माध्यम से दिये हैं।

१. अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः .... इति गाथा-कथित-लक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्ति -सरागसम्यक्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह भाव नहीं होते हैं। (यह पक्ष है) क्योंकि गाथा में आठगुणों और पच्चीस दोष से रहित सम्यग्दर्शन अन्यथा उत्पन्न नहीं हो सकता है। (यह हेतु हुआ)

इसी तरह–२.अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमाया-लोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः...पंचमगुणस्थान-योग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथा-नुपपत्तेरिति हेतुः।

अर्थात् अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नाम वाले क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह भाव सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होते हैं(पक्ष) क्योंकि...पंचम गुणस्थान के योग्य देशचारित्र के साथ होने वाला सराग सम्यक्त्व अन्यथा हो नहीं सकता है (हेतु)।

इसी तरह आगे के गुणस्थानों में भी लगा लेना।

तथोपपत्ति का उदाहरण–१. अयं पुरुषो जैनी स्याद्वाद-प्ररूपणातथोपपत्तेः यह पुरुष जैनी है क्योंकि स्याद्वाद की प्ररूपणा (कथन) तभी प्राप्त हो सकती है।

२. अयं पुरुषः बुद्धिमान् तथैव वचनचातुर्योत्पत्तेः।

यह पुरुष बुद्धिमान है क्योंकि बुद्धिमान होने पर ही वचन चातुर्य होता है।

कोई कहता है कि साध्य-साधन के अतिरिक्त दृष्टान्तादि का प्रयोग भी व्याप्ति के ज्ञान कराने में उपयोगी है, फिर व्युत्पन्नपुरुषों की अपेक्षा से उनका प्रयोग क्यों नहीं करते ? आचार्य इसका उत्तर देते हैं–

हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ॥९२॥

अन्वयार्थ–(च) और **(यथा)** जैसे **(सा)** उस **(व्याप्तिग्रहणं)** व्याप्ति का ग्रहण होता है वैसे ही **(हेतुप्रयोगः)** हेतु का प्रयोग **(विधीयते)** किया जाता है **(हि)** क्योंकि **(तावन्मात्रेण)** उतने मात्र से **(व्युत्पन्नैः)** विद्वानों के द्वारा **(अवधार्यते)** ज्ञान कर लिया जाता है।

सूत्रार्थ—जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित है, ऐसे ही हेतु का प्रयोग किया जाता है, अतः उतने मात्र से ही अर्थात् उस प्रकार के हेतु के प्रयोग से दृष्टान्तादिक के बिना ही व्युत्पन्नपुरुष व्याप्ति का निश्चय कर लेते हैं।

संस्कृतार्थ—उदाहरणादिकं विना एव तथोपपत्तिमतोऽन्यथानुपपत्तिमतो वा हेतोः प्रयोगेणैव व्युत्पन्ना व्याप्तिं गृह्णन्ति, अतस्तदपेक्षयोदाहरणादि प्रयोगस्यावश्यकता नो विद्यते।

टीकार्थ—उदाहरण आदि के बिना ही तथोपपत्तिमान का और अन्यथानुपत्तिमान का हेतु के प्रयोग से ही बुद्धिमान लोग व्याप्ति ग्रहण कर लेते हैं, इसलिए विद्वानों की अपेक्षा उदाहरणादिक के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ—जैसे व्याप्ति का ग्रहण हो जाये उस प्रकार से अर्थात् तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति के ग्रहण का उल्लंघन न करके ही हेतु का प्रयोग किया जाता है, अतः उतने मात्र से अर्थात् दृष्टान्तादिक के बिना ही व्युत्पन्नपुरुष व्याप्ति का अवधारण कर लेते हैं।

सरल व्याख्या—साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति बन जाये वह हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है। विद्वान् लोग उतने मात्र से ही अर्थ का निश्चय कर लेते हैं। वह व्याप्ति 'तथोपपत्ति' या 'अन्यथानुपपत्ति' इन दो हेतुओं से ग्रहण कर ली जाती है। इतने मात्र हेतु के प्रयोग से ही जब अनुमान प्रमाण का निश्चय हो जाता है तो न्याय निपुण पुरुषों को उदाहरण की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती है।

दृष्टान्त—एक बार चारित्रभूषण नामक मुनि ने श्री पार्श्वनाथ भगवान् के समीप अपराह्न की देववन्दना करते हुए 'देवागम स्तोत्र' पढ़ा, तभी पात्रकेसरी के साथ सभी प्रधान महापण्डित संध्यावन्दना करके श्री पार्श्वनाथ के दर्शन करने के लिए आए। देवागम स्तवन को सुनकर पात्रकेसरी ने मुनि को पूछा हे भगवन्! इसका अर्थ बतलाइए। भगवन् मुनि ने कहा—मैं

इसका अर्थ नहीं जानता हूँ। तब पात्रकेसरी ने कहा–कृपया आप पुनः पढ़ो। तब मुनि ने विशेष पदों पर रुक–रुक कर देवागम स्तवन पढ़ा। पात्रकेसरी को एक संस्थ में (एक बार में) सहज ही समस्त देवागम हृदयंगम होने से धीरे–धीरे उसका अर्थ भी हृदय में समा गया। दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न तत्त्वार्थ श्रद्धान से यह निश्चय किया कि इसमें प्रतिपादित जीव, अजीव आदि वस्तुस्वरूप ही परमार्थ है, अन्य नहीं। इस प्रकार घर में जाकर रात्रि में वस्तुस्वरूप का विचार करते रहे तो उन्हें अनुमान के विषय में संशय उत्पन्न हुआ। यहाँ जीवादि वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन है, तत्त्वज्ञान ही यह प्रमाण है। यह प्रमाण अनुमान का लक्षण है। यह जैनमत में किस प्रकार संभव है, इस प्रकार बार–बार संशय करते हुए पद्‌मावती देवी का आसन कम्पायमान हुआ, देवी ने आकर कहा–हे पात्रकेसरी! प्रातः श्री पार्श्वनाथ भगवान् के दर्शन से अनुमान के लक्षण के लक्षण का निश्चय होगा ऐसा कहकर श्री पार्श्वनाथ के फणमण्डप पर अनुमान के लक्षण का श्लोक लिखा–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

अर्थात् पक्ष धर्मत्व, सपक्ष सत्त्व और विपक्षात् व्यावृत्ति रूप हेतु की त्रैरूपता से क्या? जब अन्यथानुपपन्नत्व हेतु ही समर्थ है और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व हेतु नहीं वहाँ उक्त तीन हेतुओं से क्या ? इस प्रकार पहले तो रात्रि में देवी का दर्शन होने पर जैन मत में अतिशय रुचि प्रकट हुई। तदुपरान्त प्रातः भगवान् के दर्शन करते हुए फणामण्डप पर अनुमान लक्षण वाले श्लोक के दर्शन से लक्षण का निश्चय हो जाने से शरीर पुलकित हुआ और मन में हर्ष हुआ।

दृष्टान्तादिक का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए फलवान नहीं है, आचार्य भगवन् इस बात को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं–

तावता च साध्यसिद्धिः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(च) और **(तावता)** उतने मात्र से **(साध्यसिद्धिः)** साध्य

की सिद्धि होती है।

सूत्रार्थ—उतने मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है।

संस्कृतार्थ—साध्याविनाभाविनो हेतोः प्रयोगादेव साध्यसिद्धिः जायते। अतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तादयो नोपयुक्ताः।

टीकार्थ—साध्य के अविनाभावरूप हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, इसलिए साध्य की सिद्धि में दृष्टान्तादिक की उपयोगिता नहीं है।

विशेषार्थ—जिसका विपक्ष में रहना निश्चित रूप से असंभव है, ऐसे हेतु के प्रयोग मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। अतः उसके लिए दृष्टान्तादिक का प्रयोग कोई फलवाला नहीं है।

सरल व्याख्या—साध्य की सिद्धि के लिए ऐसे अबाधित हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त है।

उसी कारण से पक्ष का प्रयोग भी सफल है, यह दिखलाने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं—

तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः ॥९४॥

अन्वयार्थ—(तेन) उसी कारण से **(तदाधारः)** उसका आधार अर्थात् साध्य के बिना नहीं होने वाले साधन का आधार **(सूचनाय)** सूचित करने के लिए **(पक्षः)** पक्ष **(उक्तः)** कहा गया है।

सूत्रार्थ—उसी कारण से साध्य के बिना नहीं होने वाले साधन का आधार सूचित करने के लिए पक्ष कहा जाता है।

संस्कृतार्थ—साध्याविनाभाविनो हेतोः प्रयोगादेव साध्यसिद्धिः जायते अतस्तस्य हेतोः आधारदर्शनार्थमेव पक्षप्रयोगः आवश्यकः।

टीकार्थ—जब साध्य के अविनाभावि हेतु के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, तब उस हेतु (साधन) का स्थान दिखाने के लिए पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक है।

सरल व्याख्या—बौद्ध लोग एकान्त रूप से हेतु मात्र का प्रयोग ही

करना पर्याप्त समझते हैं, पक्ष आदि का नहीं, उन्हीं के मत का निराकरण करने के लिए यह सूत्र आया है।

चूँकि यथोक्त साधन (हेतु) से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है इसलिए उस साधन का आधार सूचित करने के लिए अर्थात् वह साधन कहाँ रहता है ? यह बताने के लिए पक्ष का प्रयोग किया जाता है।

पक्ष प्रयोग के बिना साधन की नियत आधारता का निश्चय नहीं हो पाता है।

अग्नि के साथ व्याप्ति रखने वाले धुँए का आधार क्या है, वह धुँआ कहाँ है ? पर्वत में अथवा रसोईघर में। इस आधार की सूचना के लिए पक्ष का कथन भी किया जाता है।

कार्य व कारण हेतु बताने वाले पिछले सभी उदाहरणों में आपने देखा होगा कि अत्र, अस्मिन् आदि पदों का प्रयोग किया है। यह पद ही पक्ष की सूचना देते हैं। जैसे सूत्र ७८ में 'नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः'– यहाँ धूम नहीं है, तो 'यहाँ' कहने से किसी आधार को कहा है। वह आधार रसोईघर भी हो सकता है, कोई पर्वत आदि भी हो सकता है। यदि बिना पक्ष के वाक्य प्रयोग किया जाये तो कैसा लगेगा ? नास्ति धूमोऽनग्नेः। अर्थात् धुँआ नहीं है, अग्नि नहीं होने से। तो इस वाक्य में अधूरापन स्पष्ट समझ आ रहा है और ऐसा भी लगता है कि साध्य का सर्वथा अभाव है। 'धुँआ नहीं है' तो वह धुँआ कहाँ नहीं है ? यहाँ या वहाँ ? यदि यहाँ कह देते हैं तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस स्थान पर नहीं है, अन्यत्र हो सकता है। इसलिए हेतु के साथ पक्ष प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

इस प्रकार अनुमान के स्वरूप का प्रतिपादन करके अब आचार्य भगवन् क्रम प्राप्त आगम के स्वरूप का निरुपण करने के लिए सूत्र कहते हैं–

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥९५॥

अन्वयार्थ–(आप्तवचनादिनिबन्धनम्) आप्त के वचन आदि के निमित्त से होने वाले **(अर्थज्ञानम्)** अर्थज्ञान को **(आगमः)** आगम कहते हैं।

सूत्रार्थ—आप्त के वचनादि के निमित्त से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

संस्कृतार्थ—यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः। आप्तस्य वचनम् आप्तवचनम्। आदिशब्देनाङ्गुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः। आप्तवचनमादिर्यस्य तत् तथोक्तं। आप्त-वचनादि निबन्धनं कारणं यस्यार्थज्ञानस्येति। आप्तशब्दोपादानाद-पौरुषेयत्वव्यवच्छेदः। अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोहज्ञानस्याभिप्राय-सूचनस्य च निरासः।

अथागमो लक्ष्यते। आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। अत्रागम इति लक्ष्यम् अवशिष्टं लक्षणं। अर्थज्ञानमित्येतावदुच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः। अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः इत्युच्चमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेषु अतिव्याप्तिः अत उक्तमाप्तेति। आप्तवाक्य-निबन्धनज्ञानमित्युच्चमानेऽपि आप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः अत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूप इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवचनात् तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युक्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव।

टीकार्थ—जहाँ जो अवञ्चक है, वह वहाँ आप्त है, आप्त का वचन आप्तवचन है। आदि शब्द से हाथ की अंगुली आदि के संकेत ग्रहण करना चाहिए। आप्त के वचनादि जिस अर्थज्ञान के कारण हैं, वह आगम प्रमाण कहलाता है। ऐसा सूत्र का अर्थ है। सूत्र में दिये गये आप्त शब्द के ग्रहण से मीमांसकों के द्वारा माने गये अपौरुषेयरूप वेद को आगमपन का व्यवच्छेद किया गया है। सूत्रोक्त 'अर्थज्ञान' इस पद से बौद्धाभिमत अन्यापोह के और अभिप्राय के सूचक शब्द-सन्दर्भ के आगमपने का निषेध किया है।

आगे आगम का लक्षण कहते हैं। आप्त के वाक्य से उत्पन्न होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ पर आगम लक्ष्य है और "आप्त के वाक्य से होने वाला अर्थ ज्ञान" इतना लक्षण है। यदि केवल 'अर्थज्ञानत्व' को ही आगम का लक्षण माना जाये तो प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति आती है, क्योंकि वह अर्थ का ज्ञान तो है परन्तु आगम नहीं है। क्योंकि आगम

को परोक्ष के भेदों में गिना है। इसलिए ''वाक्यरूप निमित्त'' से इतना विशेष कहा। ''वाक्य निमित्त से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं''। ऐसा लक्षण करने भी इच्छानुसार बोले हुए पूर्वापर असंबद्ध वाक्य के द्वारा तथा ठगाई के वाक्यों से होने वाले ज्ञान में एवं सोते हुए तथा पागल मनुष्य के वचनों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अथवा 'नदी के तीर पर फल हैं बालको दौड़ो' इत्यादि वाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में अतिव्याप्ति आती है, क्योंकि यह ज्ञान वाक्य के द्वारा हुआ है और अर्थ को विषय भी करता है किन्तु आगमरूप नहीं है। इसलिए उक्त लक्षण में 'आप्त' इतना अधिक शब्द कहा है। ''आप्त के वाक्य द्वारा होने वाले ज्ञान मात्र को आगम कहते हैं''। ऐसा लक्षण करने पर भी आप्त के वाक्यों का जो केवल श्रावण प्रत्यक्ष होता है कि यह अमुक शब्द है, उसमें अतिव्याप्ति आती है, क्योंकि उसमें आगम का लक्षण तो घटित हो गया किन्तु वह यथार्थ में आगम नहीं। इसलिए लक्षण में 'अर्थ' इतना और कहा। यहाँ पर अर्थ शब्द बोलने से इसका अर्थ तात्पर्य समझना चाहिए। क्योंकि आचार्यों ने ऐसा कहा है कि ''वचन में तात्पर्य ही ग्राह्य होता है''। इसलिए ''आप्त वाक्यरूप कारण से होने वाले तात्पर्यज्ञान को आगम कहते हैं''। यह आगम का लक्षण निर्दोष है।

सरल व्याख्या—अठारह दोषों से रहित अर्हन्त भगवान् आप्त कहलाते हैं। आप्त के वचन आदि जिस अर्थज्ञान में कारण हैं, वह आगम है। वही वचन प्रमाण हैं जो आप्त पुरुष के कहे हों। आप्त की प्रामाणिकता होने से आगम की प्रामाणिकता होती है। इसलिए आगम भी प्रमाण है। आगम प्रमाण परोक्ष प्रमाण है। भगवान् के मुखकमल से दिव्यध्वनि के द्वारा जो कहा जाता है, वह अर्थश्रुत कहलाता है, इसलिए सूत्र में अर्थज्ञान को आगम कहा है।

अर्थज्ञान को बुद्धि में अवधारित करके गणधरपरमेष्ठी जो ग्रन्थ रचना करते हैं वह शब्दश्रुत कहलाता है।

यह शब्दश्रुत भी प्रमाण है, यही बताने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं।

वचन या शब्द से वास्तविक अर्थबोध होने का कारण–

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥९६॥

अन्वयार्थ–(हि) क्योंकि **(सहजयोग्यतासङ्केतवशात्)** स्वभावभूत योग्यता और संकेत के वश से **(शब्दादयः)** शब्दादि **(वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः)** वस्तु के ज्ञान कराने के लिए कारण हैं।

सूत्रार्थ–सहज योग्यता के होने पर संकेत के वश से शब्दादि, वस्तु का ज्ञान कराने में कारण हैं।

संस्कृतार्थ–सहजा-स्वभावसंभूता, योग्यता शब्दार्थयोर्वाचकवाच्य-शक्तिः तस्याम् संकेतस्तद्वशात् हि शब्दार्थनिष्ठवाचकवाच्यशक्तिसंकेतग्रहण-निमित्तेन शब्दादयः स्पष्टरीत्या पदार्थज्ञानं जनयन्तीति भावः।

टीकार्थ–सहज-स्वभावभूतयोग्यता जो शब्द और अर्थ की वाच्य-वाचक-भावरूप शक्ति उसके होने पर संकेत के वश से और उसी प्रकार अर्थों में वाच्यरूप तथा शब्दों में वाचकरूप एक स्वाभाविक योग्यता होती है, जिसमें संकेत हो जाने से ही शब्दादिक स्पष्टरूप से पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने में कारण होते हैं यह भाव है।

विशेषार्थ–'घटशब्द' में कम्बुग्रीवादि वाले घड़े को कहने की शक्ति है और उस घड़े में वैसा कहलवाये जाने की शक्ति है। जिस व्यक्ति के ऐसा संकेत हो जाता है कि यह शब्द घड़े को कहता है उस व्यक्ति को घट शब्द के सुनने मात्र से ही घट का ज्ञान हो जाता है और घट को शीघ्र ले भी आता है।

सरल व्याख्या–शब्द में अर्थ बताने की एक सहज योग्यता होती है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध कहलाता है। इसे ही अभिधेय-अभिधान सम्बन्ध भी कहते हैं। वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही संकेत है। आदि शब्द से अंगुली से इशारा करना आदि मौन संकेत भी ग्रहण करना है क्योंकि इन संकेतों से भी वस्तु का ज्ञान होता है।

यहाँ पर बौद्ध लोग कहते हैं कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अभाव है, अतः शब्द अन्य के निषेध मात्र का अभिधायक है, इसलिए आप्तप्रणीत भी शब्द

से वस्तुभूत अर्थ का ज्ञान कैसे हो सकता है, इस प्रकार की शंका का समाधान करने के लिए आचार्य उत्तर सूत्र कहते हैं–

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥९७॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(मेर्वादयः)** मेरु आदि **(सन्ति)** हैं।

सूत्रार्थ–जैसे मेरुपर्वतादिक हैं।

संस्कृतार्थ–यथा मेर्वादयः सन्तीत्यादिवाक्यश्रवणात् सहजयोग्यता-श्रयेण हेमाद्रिप्रभृतीनां बोधो जायते तथैव सर्वत्र शब्दादर्थावबोधो जायते।

टीकार्थ–जैसे मेरुपर्वत आदिक होते हैं, इस प्रकार का वाक्य सुनने से सहज योग्यता के आश्रय से स्वर्णपर्वत मेरु आदि का ज्ञान होता है उसी प्रकार सभी जगह शब्द से पदार्थों का ज्ञान हो जाता है।

सरल व्याख्या–जैसे मेरु आदिक शब्द अपने वाच्यभूत अर्थ के ज्ञान कराने में कारण है।

तृतीय परिच्छेद का सारांश

परीक्षा मुख ग्रन्थ का यह तृतीय अध्याय इस ग्रन्थ का सर्वाधिक सूत्र वाला अध्याय है। इस अध्याय में ९७ सूत्र हैं। पुराने गुच्छक में इस ग्रन्थ के सूत्रों का संकलन किया गया है उसमें ९६ सूत्र हैं। उस गुच्छक में ७,८ दो सूत्रों को एक सूत्र मान कर रखा है। इतना ही अन्तर है।

परोक्ष प्रमाण के मूल भेद स्मृति आदि ५ हैं। इस अध्याय में परोक्ष प्रमाण सभी भेदों का वर्णन संक्षिप्त है, मात्र विस्तार अनुमान प्रमाण का है। सूत्र ९ से अनुमान का स्वरूप बताकर हेतु, अविनाभाव सम्बन्ध और साध्य का स्वरूप दिखलाया है। अनुमान की सिद्धि के लिए मुख्य रूप से पक्ष और हेतु की ही आवश्यकता है अन्य उदाहरण आदि की नहीं। इस बात का सविस्तार वर्णन किया गया है। अन्त में बालबुद्धिजनों को समझाने के लिए अनुमान के पाँच अंगों की स्वीकारता की और दृष्टान्त, उपनय, निगमन आदि का कथन किया है। स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान के दो भेद हैं। वचन भी परार्थ अनुमान का हेतु है। इन हेतुओं का वर्णन उदाहरण सहित सूत्र ५३

से प्रारम्भ करके ९३ सूत्र तक किया है। इन हेतुओं के विधि, निषेधात्मक अनेक भेदों का वर्णन बड़ा ही रोचक है। अन्त में निपुण पुरुष के लिए मात्र दो ही हेतुओं का प्रयोग उचित बताया है। सशक्त और अकाट्य हेतु का प्रयोग करना ही वादी की जीत है। इसी से साध्य की सिद्धि होती है इसलिए इन अनेक हेतुओं का प्रयोग करके जब बुद्धि कुशल हो जाती है तब अन्यथा उत्पत्ति और अन्यथा अनुत्पत्ति इन दो हेतुओं के प्रयोग से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है। इस तरह पाठक की बुद्धि इन हेतु प्रयोगों के अभ्यास से अपने आप तीक्ष्ण हो जाती है और वह न्याय ग्रन्थों में प्रवेश कर सकता है। अन्त में आगम प्रमाण को दिखाकर परोक्ष प्रमाण का प्रकरण पूर्ण हुआ है।

इति तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः

(इस प्रकार तीसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ)

हेतु के बाईस भेदों का चार्ट

उपलब्धिहेतु १२ भेद

अविरुद्धोपलब्धि (विधिसाधक ६ भेद)	विरुद्धोपलब्धि (प्रतिषेधसाधक ६ भेद)
१. अविरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतु।	१. विरुद्धव्याप्योपलब्धि हेतु।
२. अविरुद्धकार्योपलब्धि हेतु।	२. विरुद्धकार्योपलब्धि हेतु।
३. अविरुद्धकारणोपलब्धि हेतु।	३. विरुद्धकारणोपलब्धि हेतु।
४. अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि हेतु।	४. विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि हेतु।
५ अविरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु।	५. विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि हेतु।
६. अविरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु।	६. विरुद्धसहचरोपलब्धि हेतु।

अनुपलब्धिहेतु १० भेद

अविरुद्धानुपलब्धि (प्रतिषेधसाधक ७ भेद)	विरुद्धानुपलब्धि (विधि साधक ३ भेद)
१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतु।	१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु।

२. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि हेतु।
३. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतु।
४. अविरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु।
५. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि हेतु।
६. अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि हेतु।
७. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि हेतु।

२. विरुद्धकारणानुपलब्धि हेतु।
३. विरुद्धस्वभावनुपलब्धि हेतु।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

अथ प्रमाणविषय निर्णय

प्रमाण के स्वरूप और संख्या की विप्रतिपत्ति का निराकरण करके आचार्य भगवन् अब प्रमाण के विषय की विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥

अन्वयार्थ–(सामान्यविशेषात्मा) सामान्य और विशेष स्वरूप वाला **(तदर्थः)** वह पदार्थ प्रमाण का **(विषयः)** विषय है।

सूत्रार्थ–सामान्य और विशेष स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्याय स्वरूप वस्तु, प्रमाण का विषय है। क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय और पर्याय के बिना द्रव्य किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता, किन्तु द्रव्य और पर्याय उभयस्वरूप पदार्थ प्रमाण का विषय होता है, एक-एक को प्रमाण का विषय मानने में बहुत दोष होते हैं।

संस्कृतार्थ–अनुगतप्रतीतिविषयत्वं नाम सामान्यत्वम्। व्यावृत्त-प्रतीतिविषयत्वं नाम विशेषत्वम्, सामान्यं च विशेषश्चेति सामान्यविशेषौ, तौ आत्मानौ यस्य सः सामान्यविशेषात्मा, स तस्य प्रमाणस्य ग्राह्योऽर्थः इति तदर्थः। तथा च सामान्यविशेषोभयधर्मस्वरूपः प्रमाणग्राह्यः पदार्थः प्रमाण गोचरो भवतीति भावः।

टीकार्थ–अनुगत (साथ-साथ रहने वालों के) ज्ञान का विषयरूप नामवाला सामान्य है। व्यावृत्त (यह उससे भिन्न है) ज्ञान का विषयरूप नामवाला विशेष है। सामान्यं च विशेषश्चेति सामान्यविशेषौ (यहाँ द्वन्द्व समास है) सामान्य और विशेष वे दोनों हैं आत्मा जिसकी वह सामान्यविशेषात्मा (यहाँ बहुब्रीहि समास है) उस प्रमाण के ग्राह्य अर्थ को तदर्थ कहते हैं और उसी प्रकार सामान्य और विशेष उभय धर्मस्वरूप पदार्थ प्रमाण से ग्राह्य है अतः प्रमाण का विषय होता है, यह भाव है।

विशेषार्थ–अद्वैतवादी और सांख्य मतावलम्बी पदार्थ सामान्यात्मक ही मानते हैं। बौद्ध पदार्थ को विशेष रूप ही मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक

सामान्य को एक स्वतंत्र पदार्थ और विशेष को एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं और उनका द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इस प्रकार के विषयभूत पदार्थ के विषय में जो मतभेद हैं, उनके निराकरण के लिए सूत्र में सामान्य-विशेषात्मा ऐसा विशेषण पदार्थ के लिए दिया गया है।

सरल व्याख्या—सामान्य विशेष आत्मा—यह प्रमाण से गृहीत पदार्थ का विषय है। यहाँ 'आत्मा' शुद्ध स्वरूप अथवा स्वभाव अथवा तदात्मकता को बताने के लिए है। जैसे हम कहते हैं कि यह पुद्‌गलात्मक पदार्थ है तो उसका अर्थ होता है इस पदार्थ का स्वरूप पुद्‌गलमय है। यह पापात्मा है तो इसका अर्थ है कि यह व्यक्ति पापमय है। इसी प्रकार यहाँ कहा है कि पदार्थ सामान्य विशेषात्मा है तो इसका अर्थ है कि पदार्थ सामान्य विशेष स्वभाव वाला है। वह पदार्थ न मात्र सामान्य स्वभाव वाला है, न मात्र विशेष स्वभाव वाला है और न मात्र स्वतन्त्र रूप से उभयरूप है किन्तु दोनों धर्ममय है।

अब आचार्य भगवन् अनेकान्तात्मक वस्तु के समर्थन के लिए दो हेतु कहते हैं–

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

अन्वयार्थ—वस्तु **(अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्)** अनुवृत्त, व्यावृत्त ज्ञान का विषय होने से (च) और **(पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति-स्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेः)** पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति तथा स्थितिलक्षण परिणाम के द्वारा अर्थक्रिया की उत्पत्ति होती है।

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह अनुवृत्त और व्यावृत्त ज्ञान का विषय है तथा पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति तथा स्थिति लक्षण परिणाम के साथ उसमें अर्थक्रिया पायी जाती है।

संस्कृतार्थ—अनुवृत्ताकारो हि गौः गौः गौरित्यादिप्रत्ययः। व्यावृत्ताकारः श्यामः, शबलः इत्यादि प्रत्ययः। पदार्थानां कार्यमर्थक्रिया। वस्तुतः पूर्वाकार-

विनाशः उत्तराकारावाप्तिश्चेत्युभयावस्थासहितस्थितिः परिणामः।

अनुवृत्तश्च व्यावृत्तश्च तौ च तौ प्रत्ययौ, तयोः गोचरः तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। पूर्वोत्तराकारयोः यथासंख्येन परिहारावाप्तिः ताभ्यां स्थितिः सैव लक्षणं यस्य सः चासौ परिणामश्च, तेनार्थक्रियायाः उपपत्तिः तस्याः। तथा च सादृश्य-व्यावृत्तात्मकज्ञानविषयत्वात् पूर्वोत्तराकारपरित्यागप्राप्तिसहचरित-ध्रौव्यलक्षण-परिणत्या अर्थक्रियासिद्धेश्च वस्तुसामान्यविशेषात्मकम् अनेकधर्मात्मकं वा सिद्धयति।

टीकार्थ—गौ, गौ, इस प्रकार अन्वयरूप (यह वही है ऐसे) ज्ञान को अनुवृत्तप्रत्यय कहते हैं तथा यह काली है, यह चितकबरी है, इत्यादि भिन्न-भिन्न (यह वह नहीं है) प्रतीति को व्यावृत्त कहते हैं। पदार्थों के कार्य अर्थ क्रिया कहलाते हैं। जैसे घट की अर्थक्रिया जलधारण है। वस्तुतः पदार्थ के पूर्वाकार का विनाश और उत्तराकार का प्रादुर्भाव इन दोनों सहित स्थिति को परिणाम कहते हैं। एक ही वस्तु अनुवृत्तप्रत्यय तथा व्यावृत्तप्रत्यय का विषय होती है, इसलिए वस्तु अनेकान्तात्मक है। इस हेतु से वस्तु को तिर्यक्सामान्य और व्यतिरेकविशेषरूप सिद्ध किया है तथा एक ही वस्तु में पूर्व-आकार का त्याग और उत्तर-आकार की प्राप्ति इन दोनों सहित स्थितिरूप लक्षण वाले परिणाम से ही अर्थक्रिया बन सकने के कारण भी वस्तु अनेकान्तात्मक है। इस हेतु से वस्तु को ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेषरूप सिद्ध किया है। अर्थक्रिया द्रव्य (सामान्य) और पर्याय (विशेष) दोनों रूप पदार्थों में ही बन सकती है, केवल द्रव्य अथवा पर्याय में नहीं, इससे सिद्ध होता है कि सामान्य और विशेषरूप पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। इसी प्रकार अनुवृत्तप्रत्यय का विषय 'सामान्य' और व्यावृत्तप्रत्यय का विषय 'विशेष' होता है। इसलिए भी सामान्य और विशेषरूप पदार्थ ही प्रमाण का विषय सिद्ध होता है।

सरल व्याख्या—प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक अनेक धर्म वाली होती है। अनेक धर्मात्मक वस्तु की सिद्धि दो हेतुओं से होती है-

१. अनुवृत्त–व्यावृत्त प्रत्यय के द्वारा–सत्ता सामान्य की या सदृश आकार प्रतीति अनुवृत्त प्रत्यय का विषय है। जैसे यह गौ, यह भी गौ, यह भी गौ, तो यहाँ सामान्य धर्म को बताने वाला अनुवृत्त प्रत्यय है।

विशिष्टता की प्रतीति या विशेष आकार की प्रतीति व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है। जैसे यह काली गाय है, यह नील गाय है, यह चितकबरी गाय है तो यहाँ विशेष धर्म को बताने वाला व्यावृत्त प्रत्यय है।

२. उत्पाद, व्याय, ध्रौव्य के द्वारा–पूर्व–आकार का परिहार [छोड़ना] –व्यय है। उत्तर (अगले) आकार की प्राप्ति होना उत्पाद है और स्थिति लक्षण वाला बने रहना ध्रौव्य है।

इस तरह इन दोनों हेतुओं से जो वस्तु युक्त होती है वही अर्थक्रिया करने में समर्थ होती है।

अब प्रथम कहे गए सामान्य के भेद दिखलाते हुए आचार्य उत्तरसूत्र कहते हैं–

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥

अन्वयार्थ–(तिर्यगूर्ध्वताभेदात्) तिर्यक् और ऊर्ध्वता के भेद से **(सामान्यं)** सामान्य **(द्वेधा)** दो प्रकार है।

सूत्रार्थ–सामान्य के दो भेद है–तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वता–सामान्य।

संस्कृतार्थ–तियक्सामान्यं ऊर्ध्वतासामान्यं चेति सामान्यस्य द्वौ भेदौ स्तः।

टीकार्थ–तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वपनासामान्य के भेद से सामान्य के दो भेद हैं।

विशेषार्थ–सब गायों का परिणमन समान होता है, इसलिए सब ही को गोशब्द से व्यवहृत करते हैं। यहाँ गोत्व का अर्थ सदृशपरिणाम लिया है और वह प्रत्येक गाय में भिन्नता से रहता है, व्यक्तियों के समान ही संख्या वाला है।

अब प्रथम भेद तिर्यक्सामान्य को उदाहरण सहित कहते हैं–

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(सदृशपरिणामः) सदृश परिणाम **(तिर्यक्)** तिर्यक्-सामान्य है **(खण्डमुण्डादिषु)** खण्डी, मुण्डी आदि गायों में **(गोत्ववत्)** गौपने के समान।

सूत्रार्थ—सदृश परिणाम को तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गौपना।

संस्कृतार्थ—सादृश्यात्मको धर्मस्तिर्यक्सामान्यं प्रोच्यते, यथा खण्ड-मुण्डादिषु गोषु गोत्वम्।

टीकार्थ—सादृश्यात्मरूप धर्म तिर्यक्सामान्य कहा जाता है जैसे खण्डी मुण्डी आदि गायों में गौपना।

विशेषार्थ—नित्य और एकरूप गोत्व आदि सामान्य के क्रम और यौगपद्य से अर्थक्रिया का विरोध है तथा एक मात्र सामान्य के एक व्यक्ति में साकल्यरूप से रहने पर अन्य व्यक्तियों में रहना संभव नहीं है। अतः अनेक और सदृश परिणामस्वरूप ही सामान्य है। इस प्रकार तिर्यक्सामान्य का स्वरूप कहा। यौगों ने सामान्य को नित्य और एक ही माना है। आचार्य ने सामान्य के नित्य मानने में यह दूषण दिया है कि नित्यपदार्थ में क्रम से या युगपत् अर्थक्रिया नहीं बन सकती है, अतः उसे सर्वथा नित्य नहीं, किन्तु कथञ्चित् नित्य मानना चाहिए। तथा सामान्य के एक मानने में यह दूषण दिया है कि वह गोत्वादिरूप सामान्य जब एक काली या धवली गाय में पूर्णरूप से रहेगा, तब अन्य गायों में उसका रहना असम्भव होने से अभाव मानना पड़ेगा, किन्तु काली, धवली आदि सभी गायों में गोपने की प्रतीति समानरूप से होती है, अतः वह एक नहीं; किन्तु अनेक है और सदृशपरिणाम ही उसका स्वरूप है। इसे ही तिर्यक्सामान्य कहते हैं।

सरल व्याख्या—एक जाति में समान धर्मिता होना तिर्यक् सामान्य कहलाता है।

जैसे जीव जाति में जानना देखना सामान्य धर्म है। मनुष्य जाति में मनुष्यत्व सामान्य धर्म है, पशु में पशुत्व सामान्य धर्म है, गौ में गौत्व

सामान्य धर्म है। इस तरह सामान्य धर्मिता अपेक्षा भेद से ग्रहण करना चाहिए।

अब आचार्य भगवन् सामान्य के दूसरे भेद को दृष्टान्त के साथ कहते हैं–

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥

अन्वयार्थ–(परापरविवर्तव्यापिद्रव्यं) पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्याप्त होकर रहने वाले द्रव्य को **(ऊर्ध्वता)** ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं **(इव)** जैसे **(स्थासादिषु)** स्थास आदि पर्यायों में **(मृद्)** मिट्टी।

सूत्रार्थ–पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्याप्त होकर रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जैसे–स्थास, कोश, कुशूल आदि में मिट्टी रहती है। यहाँ यह मिट्टी ऊर्ध्वतासामान्य मानी जावेगी।

संस्कृतार्थ–परेऽपरे च ये विवर्तास्तेषु व्याप्नोति इति परापर-विवर्त-व्यापि। तथा च पूर्वोत्तरपर्यायव्यापकत्वे सति द्रव्यत्वं नाम ऊर्ध्वता-सामान्यम्। यथा स्थासकोशकुशूलादिषु पर्यायेषु व्यापकत्वं मृत्तिकाद्रव्यम्।

टीकार्थ–परेऽपरे च ये विवर्तास्तेषु व्याप्नोति इति परापरविवर्तव्यापि यहाँ पर द्वन्द्वगर्भित कर्मधारय समास है कि पर में और अपर में जो पर्यायें हैं उनमें जो व्याप्य होकर रहने वाला है वह परापरविवर्तव्यापि है और इसी तरह पूर्व और उत्तर पर्याय में व्यापकपने से रहने पर द्रव्यपन नामवाला ऊर्ध्वता सामान्य है। जैसे–स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायों में व्यापकपना मिट्टी द्रव्य का है।

सरल व्याख्या–उत्पाद, व्यय रूप पर्यायों में जो ध्रौव्य धर्म बना रहता है। वही यहाँ ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण है।

अब विशेष भी दो प्रकार का है, यह दिखलाते हैं–

विशेषश्च ॥६॥

अन्वयार्थ–(च) और **(विशेषः)** विशेष भी दो प्रकार है।

सूत्रार्थ–विशेष के भी दो भेद हैं।

संस्कृतार्थ–विशेषस्यापि द्वौ भेदौ विद्येते।

टीकार्थ—विशेष के भी दो भेद हैं।

अब विशेष के प्रथम भेद को कहते हैं–

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥७॥

अन्वयार्थ—(पर्यायव्यतिरेकभेदात्) पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार है।

सूत्रार्थ—पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष दो प्रकार का है।

संस्कृतार्थ—पर्यायो व्यतिरेकश्चेति द्वौ विशेषस्य भेदौ स्तः।

टीकार्थ—पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष के दो भेद हैं।

पर्याय विशेष का स्वरूप वा उदाहरण कहते हैं–

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥

अन्वयार्थ—(एकस्मिन् द्रव्ये) एक द्रव्य में **(क्रमभाविनः)** क्रम से होने वाले **(परिणामाः पर्यायाः)** परिणाम पर्याय हैं **(आत्मनि)** आत्मा में **(हर्षविषादादिवत्)** हर्ष और विषाद के समान।

सूत्रार्थ—एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में क्रम से होने वाले हर्ष-विषाद आदि की तरह।

संस्कृतार्थ—एकस्मिन्द्रव्ये क्रमशः समुत्पद्यमानाः भावाः पर्यायविशेषाः प्रोच्यन्ते। यथात्मनि हर्षविषादादयो भावाः।

टीकार्थ—एकद्रव्य में क्रम से उत्पन्न होने वाले भाव, पर्याय विशेष कहे जाते है। जैसे आत्मा में क्रम से होने वाले हर्ष-विषाद आदि भाव।

अब विशेष के दूसरे भेद को बताते हैं–

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥

अन्वयार्थ—(अर्थान्तरगतः) एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को प्राप्त **(विसदृशपरिणामः)** असमान परिणाम **(व्यतिरेकः)** व्यतिरेक कहलाता है **(गोमहिषादिवत्)** गौ, भैंस आदि के समान।

सूत्रार्थ—एक पदार्थ की अपेक्षा अन्य पदार्थ में रहने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक कहते हैं। जैसे–गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना।

संस्कृतार्थ—अन्ये अर्थाः अर्थान्तराणि, तानि गतः इत्यर्थान्तरगतः। विसदृशश्चासौ परिणामो विसदृशपरिणामः। तथा च भिन्न–भिन्न–पदार्थनिष्ठत्वे सति। विलक्षणधर्मत्वं नाम व्यतिरेकत्वम्। यथा पारस्परिकवैलक्षण्यविशिष्टा गोमहिषादयस्तिर्यञ्चः।

टीकार्थ—अन्य अर्थ अर्थान्तर कहलाते है उनको प्राप्त इस प्रकार 'अर्थान्तरगत' शब्द का अर्थ है। और विसदृश यह परिणाम 'विसदृशपरिणाम' है। उसी तरह भिन्न–भिन्न पदार्थों में रहने पर विलक्षणधर्मत्व नामक व्यतिरेकपना है। जैसे परस्पर में विलक्षणता से सहित गाय और भैंस आदि तिर्यञ्च हैं।

चतुर्थ परिच्छेद का सारांश

इस अध्याय में प्रमाण के विषयभूत पदार्थ का वर्णन किया गया है। पदार्थ, वस्तु, अर्थ एक ही अर्थ में जानना। वह वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है। सामान्य और विशेष प्रत्येक पदार्थ के ऐसे गुणधर्म हैं जो सभी में रहते हैं। जगत् का कोई भी पदार्थ यदि अस्तित्व में है तो वह सामान्य, विशेष दोनों धर्मों को धारण करने वाला होता है। इस सामान्य गुणधर्म के तिर्यक् और ऊर्ध्वता के भेद से दो भेद हैं और विशेष गुण धर्म के पर्याय और व्यतिरेक के भेद से दो भेद हैं।

सामान्य गुणधर्म में अभेद, का अन्वय का ज्ञान कराने का स्वभाव होता है। यह वही है, यह वही है, इस प्रकार के अन्वय रूप ज्ञान से पदार्थ में अभेद का ज्ञान होता है। इससे पदार्थ सामान्य रूप जानने में आता है।

विशेष गुणधर्म में भेद का, व्यतिरेक का ज्ञान कराने का स्वभाव होता है। यह दूसरा है या यह पूर्व पर्याय से भिन्न पर्याय है, इस प्रकार के पृथक् रूप विशेष ज्ञान से पदार्थ में भेद का ज्ञान होता है। इससे पदार्थ विशेष रूप जानने में आता हैं।

यह सामान्य और विशेष गुणधर्म प्रत्येक पदार्थ में एक दूसरे गुण की अपेक्षा रखते हैं। इसके लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने ज्ञान का उदाहरण दिया है। 'यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।' स्वयंभूस्तोत्र १३/३। अर्थात् जैसे ज्ञान में स्व, पर प्रकाशत्व दो धर्म स्वतः सिद्ध हैं उसी प्रकार पदार्थ में सामान्य रूपता और विशेष रूपता ये दोनों धर्म स्वतः सिद्ध हैं। यह वस्तु का स्वभाव है, इसे अन्यथा नहीं किया जा सकता है।

इति चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः

(इस प्रकार चतुर्थः परिच्छेद पूर्ण हुआ)

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

अथ प्रमाण-फल निर्णय

अब आचार्य भगवन् प्रमाण के फल की विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए उत्तर सूत्र कहते हैं–

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(अज्ञाननिवृत्तिः) अज्ञान की निवृत्ति **(च)** और **(हानोपादानोपेक्षाः)** हान/त्याग, उपादान/ग्रहण और उपेक्षा/उदासीनता ये प्रमाण के **(फलम्)** फल हैं।

सूत्रार्थ–अज्ञान की निवृत्ति, त्याग, ग्रहण और उदासीनता ये प्रमाण के फल हैं।

संस्कृतार्थ–अज्ञानस्य निवृत्तिः अज्ञाननिवृत्तिः। प्रमेयाज्ञाननिरास इत्यर्थः। हानं च उपादानं च उपेक्षा चेति हानोपादानोपेक्षाः त्यागग्रहणानादराः इत्यर्थः। तद्यथा प्रमाणस्य फलं द्विविधं, साक्षात्फलं परम्पराफलं चेति। तत्र साक्षात्फलम् अज्ञाननिवृत्तिः परम्पराफलं च क्वचित्वस्तुत्यागः, क्वचित्-वस्तुग्रहणं, क्वचित्वस्त्वनादरो वा। त्यागादीनां प्रमेयनिश्चयोत्तरकाल-भावित्वात्।

टीकार्थ–अज्ञान की निवृत्ति अज्ञाननिवृत्ति (षष्ठी तत्पुरुष) प्रमेय सम्बन्धी अज्ञान का निराकरण हेतु यह अर्थ लेना है। हानं च उपादानं च उपेक्षा चेति हानोपादानोपेक्षाः यहाँ द्वन्द्व समास है। हान का अर्थ त्याग, उपादान का अर्थ ग्रहण और उपेक्षा का अर्थ अनादर है, अतः प्रमाण का फल दो प्रकार है–साक्षात्फल–वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति है और परम्पराफल–किसी वस्तु का त्याग, किसी वस्तु का ग्रहण और किसी वस्तु का अनादर। त्यागादि के प्रमेय/ज्ञेय का निश्चय उत्तरकाल में होता है।

विशेषार्थ–फल दो प्रकार का होता है–साक्षात्फल और पारम्पर्य-फल। वस्तुसम्बन्धी अज्ञान की निर्वृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्परा फल हैं, क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है। वस्तु के जानने के साथ ही तत्काल होने वाले फल को **साक्षात्फल** कहते हैं। जब हम किसी अज्ञात वस्तु को प्रमाण से जानते हैं, तब तत्सम्बन्धी

अज्ञान तत्काल दूर हो जाता है। यही अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण का **साक्षात्फल** है। वस्तु के जानने के पश्चात् परम्परा से प्राप्त होने वाले फल को **पारम्पर्यफल** कहते हैं। वह हान, उपादान और उपेक्षा के भेद से तीन प्रकार का है—जानने के पश्चात् अनिष्ट या अहितकार वस्तु के परित्याग करने को **हान** कहते हैं। इष्ट या हितकार वस्तु के ग्रहण करने को **उपादान** कहते हैं। जब तक मनुष्य के राग-द्वेष लगा रहता है, तब तक वह पर पदार्थों में कभी इष्ट की और कभी अनिष्ट की कल्पना किया करता है। किन्तु जब वह राग-द्वेष से रहित वीतरागदशा को प्राप्त कर लेता है, तब उसके किसी भी पदार्थ में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं रहती। उस वीतराग दशा में किसी भी पदार्थ को जानने के पश्चात् उसमें हेय-उपादेय की बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु **उपेक्षा या उदासीनतारूप** माध्यस्थ्य भाव पैदा होता है, यह भी प्रमाण का पराम्पर्यफल है। राग-द्वेष दूर होने के पहले भी मनुष्य जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं समझता, ऐसे ज्ञेय पदार्थों में **उपेक्षाभाव** रखता है।

सरल व्याख्या—प्रमाण के दो फल हैं—साक्षात् फल, परम्परा फल

जो फल तत्काल प्राप्त हो वह साक्षात् फल है। जो फल क्रमवारी से प्राप्त हो वह परम्परा फल है।

न्याय के अनुसार—

१. अज्ञान का दूर होना—यह प्रमाण का साक्षात् फल है।

२. त्याग, ग्रहण, उदासीन होना—यह प्रमाण का परम्परा फल है।

सिद्धान्त के अनुसार—

१. अज्ञान दूर होना यानि सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना—यह परीक्षामुख सूत्र या अन्य न्याय ग्रन्थों को पढ़ने का तात्कालिक फल है।

२. हान—पाप का त्याग, उपादान—व्रत का ग्रहण यह व्यवहार सम्यक् चारित्र है। इसे अपहृत संयम कहते हैं। व्यवहार सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होना न्याय ग्रन्थ को पढ़ने का परम्परा फल है।

३. व्यवहार चारित्र को छोड़कर उपेक्षा वृत्ति अपनाना निश्चय चारित्र है

जिसे उपेक्षा संयम भी कहते हैं। यह प्रमाण का अन्तिम फल है।

प्रमाण का अन्तिम फल उपेक्षा है। यह उपेक्षा ही रागद्वेष से रहित मध्यस्थ वृत्ति है। इस तरह प्रमाण का फल अध्यात्म (आत्मा) में लीन होना है अथवा वीतराग दशा को प्राप्त होना है।

प्रमाण के कुल फल चार हैं। अज्ञान निवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षा।

जब हम प्रमाण के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं तो उसी समय उस पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान दूर हो जाता है। जिस वस्तु से भ्रम, संशय, अज्ञान आदि उत्पन्न होता था उस वस्तु का त्याग हो जाता है। जो पदार्थ आत्म हित में है उसका ग्रहण कर लेता है, शेष बचे सभी पदार्थों के प्रति उपेक्षा (उदासीन) भाव रखता है। इस तरह से समझने पर यह न्याय ग्रन्थ सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की उत्पत्ति का कारण बनता है।

अध्यात्म के अनुसार–अशुभोपयोग से छुड़ाकर, शुभोपयोग दिलाकर और अन्त में शुद्धोपयोग में लीन करा देता है। उपेक्षा शुद्धोपयोग में भी होती है और शुद्धोपयोग के फलस्वरुप केवलज्ञान में भी होती है। इस तरह प्रमाण का फल परम्परा से केवलज्ञान सिद्ध होता है।

साक्षात्फल और परम्पराफल यह दोनों ही प्रकार का फल प्रमाण से भिन्न ही है, ऐसा यौग लोग मानते हैं। प्रमाण से फल अभिन्न नहीं है, ऐसा बौद्ध मानते हैं। इन दोनों मतों के निराकरण के साथ अपने मत की व्यवस्था करने के लिए आचार्य सूत्र कहते हैं–

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥

अन्वयार्थ–प्रमाण का फल **(प्रमाणात्)** प्रमाण से **(अभिन्नं)** अभिन्न **(च)** और **(भिन्नं)** भिन्न है।

सूत्रार्थ–फल प्रमाण से कथञ्चित् अभिन्न है और कथञ्चित् भिन्न है।

संस्कृतार्थ–तत्प्रमाणफलं संज्ञास्वरूपादिभेदापेक्षया कथञ्चित् प्रमाणात् भिन्नं विद्यते। प्रमाणस्य करणरूपत्वात्, प्रमितेश्च क्रियारूपत्वादिति।

कथञ्चिच्चाभिन्नं विद्यते।

टीकार्थ—वह प्रमाण का फल संज्ञा, स्वरूपादि भेद की अपेक्षा से कथञ्चित् प्रमाण से भिन्न है और प्रमाण का करणरूप होने से और प्रमिति के क्रियारूप होने से कथञ्चित् अभिन्न है।

सरल व्याख्या—जिस तरह द्रव्य और गुण में कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता होती है उसी प्रकार यहाँ जानना।

जिस आत्मा में प्रमाण होता है उसी में प्रमाण का फल प्राप्त होता है अन्यत्र नहीं, इस अपेक्षा से कथंचित् अभिन्नता है।

संज्ञा, संख्या, स्वरूप, परिणाम और प्रयोजन की अपेक्षा कथंचित् भिन्नता है।

संज्ञा की अपेक्षा—नाम भेद है। प्रमाण और प्रमाण का फल इस तरह दोनों के नाम भिन्न होने से कथंचित् भिन्नता है।

संख्या की अपेक्षा—प्रमाण की संख्या प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो है जब कि प्रमाण के फल की संख्या साक्षात् और परम्परा के भेद से दो है। सभी उपभेदों की अपेक्षा (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, मुख्य प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम) प्रमाण की संख्या ७ होती है। जबकि प्रमाण फल की ४ है।

स्वरूप की अपेक्षा—प्रमाण का स्वरूप प्रथम परिच्छेद के प्रथम सूत्र में बताया है। और प्रमाण फल का स्वरूप पंचम परिच्छेद के प्रथम सूत्र में बताया है।

परिणाम की अपेक्षा—प्रमाण करणरूप परिणाम है और फल क्रिया रूप परिणाम है।

प्रयोजन की अपेक्षा—प्रमाण का प्रयोजन पदार्थ संसिद्धि तथा प्रमाण फल का प्रयोजन उपेक्षा है।

अब कथञ्चित् अभेद का समर्थन करने के लिए हेतु रूप सूत्र कहते हैं—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति

प्रतीतेः ॥३॥

अन्वयार्थ–(यः) जो **(प्रमिमीते)** जानता है **(सः)** वह **(एव)** ही **(निवृत्ताज्ञानः)** अज्ञान से निवृत्त होता है वही **(जहात्यादत्ते)** त्यागता है, ग्रहण करता है **(च)** और **(उपेक्षते)** उपेक्षा करता है **(इति)** इस प्रकार **(प्रतीतेः)** प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से प्रमाण का फल अभिन्न है।

सूत्रार्थ–जो (जानने वाला) प्रमाण से पदार्थ को जानता है, उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वही अनिष्ट पदार्थ का त्याग करता है, इष्ट का ग्रहण करता है अथवा जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्टरूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

संस्कृतार्थ–तद्धि प्रमाणफलम् एकप्रमातृसम्बन्धापेक्षया कथञ्चित् प्रमाणादभिन्नं विद्यते। तद्यथा–यः आत्मा पदार्थं जानाति, स एव पदार्थ-विषयिकाज्ञानरहितः सन् पदार्थं त्यजति, गृह्णाति, उपेक्षते चेति प्रतीतेः।

टीकार्थ–प्रमाण का फल, प्रमाता (ज्ञाता) की अपेक्षा से कथञ्चित् प्रमाण से अभिन्न है, जो आत्मा पदार्थ को जानता है, वही पदार्थ विषयक अज्ञान से रहित होता हुआ पदार्थ को त्यागता है, ग्रहण करता है और उपेक्षा करता है इस प्रकार प्रतीति होती है।

विशेष–इस सूत्र का भाव यह है कि जो आत्मा प्रमाण के आकार से परिणत होता है, उसके ही फलरूप से परिणाम देखा जाता है। इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करणरूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है। इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक् नहीं कहा है।

सरल व्याख्या–एक ही आत्मा में अज्ञान निवृत्ति के साथ त्याग, ग्रहण और उपेक्षा की क्रिया घटित होती है इसलिए प्रमाण और प्रमाण का फल आत्मा से कथंचित् अभिन्न है।

इस सूत्र में प्रमिमीते, जहाति, आदत्ते, उपेक्षते इन क्रिया पदों का प्रयोग

ही यह दर्शाता है कि एक ही आत्मा में यह फल क्रिया रूप से प्राप्त होते हैं।

उपेक्षा भी एक क्रिया है। सिद्ध भगवान् इस अपेक्षा से क्रियावान् सिद्ध होते हैं। एकान्त से वह निष्क्रिय ही नहीं है।

पञ्चम परिच्छेद का सारांश

इस अध्याय में प्रमाण के फल का वर्णन मात्र ३ सूत्रों में किया गया है। प्रमाण से प्रमाण का फल कथंचित् भिन्न होता है और कथंचित् अभिन्न होता है। अन्य दार्शनिक प्रमाण से प्रमाण फल को या तो एकान्त रूप से भिन्न मानते हैं या अभिन्न मानते हैं इसी का स्पष्टीकरण इस अध्याय में है।

इति पञ्चमः परिच्छेदः समाप्तः

(इस प्रकार पाँचवाँ परिच्छेद पूर्ण हुआ)

अथ षष्ठः परिच्छेदः

अथ आभास स्वरूप प्रकरणम्

अब पहले कहे गये प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल इन चारों के आभासों को कहने के लिए सूत्र कहते हैं–

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥१॥

अन्वयार्थ–(ततः) उस प्रमाण से **(अन्यत्)** अन्य **(तदाभासम्)** वह प्रमाणाभास है।

सूत्रार्थ–पहले कहे गए प्रमाण से भिन्न प्रमाणाभास है।

संस्कृतार्थ–पूर्वोक्तप्रमाणस्य स्वरूपसंख्याविषयफलेभ्यो विपरीतानि (भिन्नानि) स्वरूपसंख्या-विषयफलानि स्वरूपाभाससंख्याभासविषयाभासाः प्रोच्यन्ते।

टीकार्थ–पहले कहे गए प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल से विपरीत स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास कहे जाते हैं।

विशेषार्थ–यथार्थ स्वरूप से रहित होने पर भी उन जैसे प्रतिभासित होने वाले स्वरूपादि को **तदाभास** कहते हैं। प्रमाण के स्वरूप से रहित विपरीत आभास को **स्वरूपाभास** कहते हैं। प्रमाण की यथार्थ संख्या से विपरीत अयथार्थ संख्या को **संख्याभास** कहते हैं। प्रमाण के वास्तविक विषय से विपरीत विषय को **विषयाभास** कहते हैं। प्रमाण के वास्तविक फल से रहित फल को **फलाभास** कहते हैं।

अब क्रम प्राप्त स्वरूपाभास को कहते हैं–

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ॥२॥

अन्वयार्थ–(अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः) अस्व-संविदित, गृहीतार्थ, दर्शन, संशय आदि **(प्रमाणाभासाः)** प्रमाणाभास कहलाते हैं।

सूत्रार्थ–अस्वसंविदित, गृहीतार्थ, दर्शन, संशय, विपर्यय और

अनध्यवसायरूप ज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ—अस्वसंविदितं, गृहीतार्थज्ञानं, दर्शनं, संशयः, विपर्ययः, अनध्यवसायश्चेति षट्प्रमाणाभासाः प्रोच्यंते।

टीकार्थ—अस्वसंविदित, गृहीतार्थज्ञान, दर्शन, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इस प्रकार ये छः प्रमाणाभास कहे गए हैं।

विशेषार्थ—जो ज्ञान अपने आपके द्वारा अपने स्वरूप को नहीं जानता है, उसे **अस्वसंविदित ज्ञान** कहते हैं। किसी यथार्थ ज्ञान के द्वारा पहले जाने हुए पदार्थ के पुनः जानने वाले ज्ञान को **गृहीतार्थ ज्ञान** कहते हैं। यह घट है, यह पट है, इत्यादि विकल्प से रहित निर्विकल्प रूप ज्ञान को **दर्शन** कहते हैं। परस्पर विरोधी दो पक्षों के विषय करने वाले ज्ञान को **संशय** कहते हैं। वस्तु के अन्यथा जानने को **विपर्यय** कहते हैं। वस्तु का यथार्थ निश्चय न होकर कुछ है, इस प्रकार के अनिश्चित ज्ञान को **अनध्यवसाय** कहते हैं। ये सभी प्रमाण के स्वरूपाभास हैं, क्योंकि वे प्रमाण के यथार्थ स्वरूप से रहित हैं।

सरल व्याख्या—१. अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाणाभास है—जो ज्ञान अपने आपके द्वारा अपने स्वरूप को जानता है वह स्वसंविदित ज्ञान है। प्रमाण का स्वरूप समझाते हुए प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में जो स्वव्यवसायात्मक ज्ञान का स्वरूप बताया था उसे ही यहाँ स्वसंविदित ज्ञान कहा है। इसके विपरीत जो नैयायिकों का कहना है कि कोई भी ज्ञान अपने स्वरूप का अपने आप का संवेदन नहीं करता है, या अपने आप को नहीं जानता है इसलिए ज्ञान अस्वसंविदित होता है तो उनका यह ज्ञान प्रमाणाभास है।

उन **नैयायिकों** का कहना है कि ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानता है किन्तु ज्ञान के स्वरूप का संवेदन करने के लिए अन्य ज्ञान की जरूरत होती है। ऐसा अस्वसंविदित ज्ञान भला पर पदार्थ को भी कैसे जान सकता है ? इसलिए ऐसा ज्ञान प्रमाणाभास है।

२. गृहीतार्थ ज्ञान प्रमाणाभास है—पहले प्रमाण से जिस पदार्थ का

ग्रहण किया था पुनः ज्ञान उसी ग्रहण किए हुए पदार्थ को ग्रहण करता है तो उसे गृहीतार्थ ज्ञान या गृहीतग्राही धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान गृहीत अर्थ का ही पुनः पुनः धारावाहिक निरन्तर क्रम से ग्रहण करता है। ऐसा ज्ञान प्रमाणाभास है। क्योंकि यह प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में दिए गए अपूर्व विशेषण को सार्थक नहीं करता है। प्रमाण के स्वरूप में अपूर्वार्थ को जानने वाला ज्ञान इसीलिए स्वीकारा है, क्योंकि ऐसा ही प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। जो ज्ञान उसी-उसी पदार्थ को, पहले के ही ढंग से, उसी अर्थ को उतने ही अंशों में ग्रहण करेगा ऐसा गृहीतार्थ ज्ञान भला अज्ञान निवृत्ति फल को कैसे प्राप्त करेगा ? अनादि के अज्ञान से अयथार्थरूप से ही पदार्थ को ग्रहण करता रहेगा तो उसे कभी भी कुछ नए फल की प्राप्ति नहीं होगी।

साधारण जन भी इस बात का अनुभव करते हैं कि एक ही ग्रन्थ को यदि बार-बार भी पढ़ते हैं तो उससे भी नए-नए अर्थ, नया-नया अनुभव ज्ञान में आता है। भगवती आराधना में आचार्य कहते हैं कि स्वाध्याय निरन्तर करने से नया-नया संवेग भाव उत्पन्न होता है। इससे सहज सिद्ध होता है कि ज्ञान का स्वभाव ही अपूर्व-अपूर्व अर्थ को ग्रहण करने का है। जो लोग ज्ञान को गृहीतार्थ मानते हैं मानो वे पिष्टपेषण (पिसे आटे को ही पीसते रहना) ही करते रहते हैं इसलिए गृहीतार्थ ज्ञान प्रमाणाभास है।

३. दर्शन प्रमाणाभास है—यहाँ दर्शन शब्द से बौद्धों के द्वारा माना गया निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण लिया है। बौद्ध लोग यद्यपि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं फिर भी वे निर्विकल्प प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु का निश्चायक नहीं है। ऐसा दर्शन या निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाणाभास है। प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में प्रमाण का जो 'व्यवसायात्मक' विशेषण दिया गया है उसके विपरीत स्वरूप होने से दर्शन प्रमाणाभास है।

पहली बात तो यह है कि ऐसे निर्विकल्प दर्शन (प्रत्यक्ष) की उपलब्धि ही नहीं होती है। दूसरी बात ऐसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष से कुछ भी निर्णय, निश्चय नहीं होता है। भला पदार्थ निर्णय करने में असमर्थ ऐसे अनिश्चयात्मक

ज्ञान को प्रमाण कैसे कह सकते हैं ? इसलिए यह बौद्धों का दर्शन प्रमाणाभास है।

४. संशय आदि भी प्रमाणाभास हैं—आदि शब्द से विपर्यय, अनध्यवसाय लिए गए हैं। ये संशय आदि प्रमाणाभास हैं, यह प्रसिद्ध ही है। संशय आदि का स्वरूप पहले कहा गया है। इन तीनों में पदार्थ का निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान नहीं होता है इसलिए ये प्रमाणाभास हैं।

अब इन उपर्युक्त अस्वसंविदित ज्ञानादि के प्रमाणाभासता क्यों है, इसका उत्तर देते हुए आचार्य भगवन् सूत्र कहते हैं—

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ॥३॥

अन्वयार्थ—(स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्) अपने विषय के निश्चयपने का अभाव होने से ये अस्वसंविदित आदि प्रमाणाभास हैं।

सूत्रार्थ—अपने विषय के निश्चायक नहीं होने से ये अस्वसंविदितादि प्रमाणाभास हैं।

संस्कृतार्थ—अस्वसंविदितादयः स्वस्वविषयनिश्चायकत्वाभावात् प्रमाणाभासाः प्रोच्यन्ते।

टीकार्थ—अस्वसंविदित आदि अपने-अपने विषय के निश्चायक न होने से प्रमाणाभास कहे जाते हैं।

सरल व्याख्या—अस्वसंविदित आदि पूर्व सूत्र में कहे गए प्रमाणाभास अपने विषय का निश्चय नहीं कर सकते हैं, इसलिए प्रमाणाभास हैं।

पूर्व सूत्र में ही इसका स्पष्टीकरण हो चुका है।

अब आचार्य भगवन् ऊपर कहे गए प्रमाणाभासों के यथाक्रम से दृष्टान्त कहते हैं—

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ॥४॥

अन्वयार्थ—(पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्) दूसरे पुरुष के ज्ञान की तरह, पूर्व में जाने हुए पदार्थ के ज्ञान की तरह, चलते हुए पुरुष के तृणस्पर्श के ज्ञान की तरह, ठूँठ है या पुरुष इस प्रकार

के ज्ञान की तरह इत्यादि ये अस्वसंविदित आदि प्रमाणाभासों के उदाहरण हैं।

सूत्रार्थ—दूसरे पुरुष के ज्ञान की तरह अस्वसंविदितज्ञान, पूर्व में जाने हुए पदार्थ के ज्ञान की तरह गृहीतार्थज्ञान, चलते हुए पुरुष के तृणस्पर्श के ज्ञान की तरह दर्शन, ठूँठ है या पुरुष इस प्रकार के ज्ञान की तरह संशयज्ञान, सीप में चाँदी के ज्ञान की तरह विपर्ययज्ञान और चलते हुए के तृणस्पर्श के ज्ञान की तरह अनध्यवसाय अपने अपने विषय को निश्चयरूप से नहीं जानते इसलिए ये **प्रमाणाभास** हैं।

संस्कृतार्थ—यथा पुरुषान्तरज्ञानं, धारावाहिज्ञानं, गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानं तथा स्थाणुपुरुषज्ञानम् इत्यादि ज्ञानानां स्वस्वविषयनिश्चायकत्वाभावेन अस्व-संविदितादिज्ञानानां प्रमाणाभासत्वं सिद्धयन्ति।

टीकार्थ—जैसे दूसरे पुरुष का ज्ञान, धारावाही ज्ञान, चलते हुये मनुष्य के तृणस्पर्श का ज्ञान तथा स्थाणु में पुरुष का ज्ञान। इत्यादि ज्ञानों के ये दृष्टान्त अपने-अपने विषय सम्बन्धी निश्चायकत्व का अभाव होने से अस्वसंविदितादि ज्ञानों के प्रमाणाभासपने को सिद्ध करते हैं।

सरल व्याख्या—इस सूत्र का अर्थ समझने के लिए पूर्वोक्त दोनों सूत्रों का सहारा लेकर यथा क्रम से दृष्टान्त को हेतु के साथ इस प्रकार लगाएँ–

१. अस्वसंविदितज्ञानं प्रमाणाभासः स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् पुरुषान्तरज्ञानवत्।

अस्वसंविदित ज्ञान प्रमाणभास है [पक्ष], अपने विषय का निश्चयाक नहीं होने से [हेतु], जैसे दूसरे पुरुष का ज्ञान [दृष्टान्त]।

जैसे राम को अपना ज्ञान नहीं हुआ तो वह अस्वसंविदित ज्ञान श्याम के द्वारा कैसे जाना जायेगा ? श्याम का ज्ञान भी अपना निश्चायक नहीं है। दूसरे पुरुष के ज्ञान से अपने ज्ञान में प्रामाणिकता कैसे आएगी? इसलिए दूसरे पुरुष (श्याम) का ज्ञान जैसे प्रमाणाभास है, उसी प्रकार स्वयं (राम) का ज्ञान भी है।

२. गृहीतार्थज्ञानं प्रमाणाभासः स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् पूर्वार्थज्ञानवत्।

अर्थात् गृहीतार्थ ज्ञान भी प्रमाणाभास है [पक्ष], अपने विषय का निश्चायक नहीं होने से [हेतु], पूर्वार्थज्ञान की तरह [दृष्टान्त]। जैसे पूर्व [पहले] में जाने हुए पदार्थ का ज्ञान अपने विषय का निर्णायक नहीं हुआ था उसी प्रकार गृहीतार्थ ज्ञान भी नहीं होने से गृहीतार्थज्ञान प्रमाणाभास है।

३. दर्शनं प्रमाणाभासः स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् गच्छत्तृणस्पर्श-ज्ञानवत्।

अर्थात् दर्शन भी प्रमाणाभास है [पक्ष], अपने विषय का निश्चायक नहीं होने से [हेतु], जाते हुए पुरुष के तृण स्पर्शज्ञान की तरह [दृष्टान्त]

जैसे चलते हुए पुरुष के पैर में तृण स्पर्श आदि हो जाने पर उसे कुछ भी निश्चय नहीं रहता है उसी प्रकार दर्शन यानी निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण भी अपने विषय का निश्चायक नहीं होने से प्रमाणाभास है।

४. संशयादि-ज्ञानं प्रमाणाभासः स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् स्थाणु-पुरुषादिज्ञानवत्।

अर्थात् संशय आदि ज्ञान भी प्रमाणाभास हैं [पक्ष], अपने विषय का निश्चायक नहीं होने से (हेतु), स्थाणुपुरुष आदि के ज्ञान की तरह [दृष्टान्त]।

जैसे कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष है, इस ज्ञान में निश्चय नहीं है उसी प्रकार संशय आदि ज्ञान में भी अपने विषय का निश्चय नहीं होने से वे प्रमाणाभास हैं।

अब आचार्य सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले नैयायिकादि के दृष्टान्त कहते हैं–

चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥५॥

अन्वयार्थ–(द्रव्ये) द्रव्य में **(चक्षुरसयोः)** चक्षु और रस के **(संयुक्तसमवायवत्)** संयुक्त समवाय के समान।

सूत्रार्थ–जिस प्रकार द्रव्य में चक्षु और रस का संयुक्त समवाय होता हुआ भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानरूपी फल को उत्पन्न नहीं करता,

उसी प्रकार द्रव्य में चक्षु और रूप का संयुक्तसमवाय भी प्रमाण नहीं है क्योंकि वह भी ज्ञानरूपी फल को पैदा नहीं कर सकता है, इसलिए सन्निकर्ष भी प्रमाणाभास ही है।

संस्कृतार्थ—यथा घटपटादिपदार्थेषु चक्षुरसयोः संयुक्तसमवायाख्य-सन्निकर्षः विद्यमानोऽपि न प्रमाणं तस्याचेतनत्वेन प्रमितिक्रियाम्प्रति-करणत्वाभावात्। किञ्च असन्निकृष्टस्यैव चक्षुषो रूपजनकत्वं दृश्यते, अप्राप्यकारित्वात् तस्य।

टीकार्थ—जैसे घट-पटादि पदार्थों में, चक्षु और रस में संयुक्त समवाय नाम का सन्निकर्ष विद्यमान होने पर भी प्रमाण नहीं है, उसके अचेतन होने से प्रमिति क्रिया के प्रति करणपने का अभाव होने से और उस चक्षु इन्द्रिय के अप्राप्यकारि होने से असन्निकृष्ट चक्षु के ही रूपज्ञान उत्पन्न करते हुए देखा जाता है।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग को **सन्निकर्ष** कहते हैं। नैयायिक लोग सन्निकर्ष के छह भेद मानते हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्यभाव। आँख से घड़े को जानना संयोगसन्निकर्ष है। घड़े के रूप को जानना संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष है, क्योंकि आँख के साथ घड़े का संयोगसम्बन्ध है और घड़े के साथ रूप का समवायसम्बन्ध है। प्रकृत में इसी से प्रयोजन है। आचार्य भगवन् कहते हैं कि जैसे घड़े और रूप का समवायसम्बन्ध है, उसी प्रकार रस का भी समवायसम्बन्ध है। इसलिए जैसे-आँख से घड़े के रूप का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाले रस का भी आँख से ज्ञान होना चाहिए, परन्तु होता नहीं है। इसलिए प्रतीति के अभाव में भी लक्षण के पाये जाने से अतिव्याप्ति दोष आता है। इसी प्रकार इन्द्रियपदार्थ के सम्बन्धरूप सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर अव्याप्तिदोष भी आता है, क्योंकि शेष इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने पर भी आँख के साथ पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उसे प्रमाण माना गया है। और आँख पदार्थ के साथ स्पृष्ट होकर अर्थात् उससे भिड़कर पदार्थ को नहीं जानती है मन के समान उससे अस्पृष्ट रहकर ही अपने विषय को ग्रहण करती है,

इसलिए चक्षु इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष लक्षण के संभव न होने से असंभवदोष भी आता है। अतएव सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता किन्तु वह प्रमाणाभास ही है।

सरल व्याख्या—नैयायिक लोग इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग को सन्निकर्ष प्रमाण मानते हैं।

सन्निकर्ष के छह भेद हैं, उनमें से यहाँ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से प्रयोजन है। इसे ही संयोग समवाय कहते हैं।

आँख से घड़े को जानना संयोग (संयुक्त) सन्निकर्ष है। क्योंकि यहाँ आँख और घड़े का संयोग हुआ है। यदि आँख से घड़े के रूप को जाना तो यह संयुक्त समवाय होता है क्योंकि आँख के साथ घड़े का संयोग सम्बन्ध है और घड़े के साथ रूप का समवाय सम्बन्ध है।

घड़े में समवाय सम्बन्ध से जैसे रूप रहता है वैसे ही रस गुण भी रहता है।

आचार्य पूछते हैं जैसे संयुक्त समवाय सम्बन्ध से घड़े के रूप का ज्ञान चक्षु को होता है उसी प्रकार घड़े के रस का ज्ञान भी उसी चक्षु से होना चाहिए परन्तु ऐसा होता नहीं है इसलिए सन्निकर्ष ज्ञान प्रमाणाभास है।

यहाँ तक प्रमाण-स्वरूपाभास का कथन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार सामान्य से प्रमाणाभास का स्वरूप कहकर अब आचार्य प्रमाण के भेदों के आभास कहते हुए पहले प्रत्यक्षाभास को कहते हैं—

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ॥६॥

अन्वयार्थ—(बौद्धस्य) बौद्ध का **(अवैशद्ये)** अविशदरूप ज्ञान में **(प्रत्यक्षं)** प्रत्यक्ष मानना **(तदाभासं)** प्रत्यक्षाभास है **(अकस्मात्)** अचानक **(धूमदर्शनात्)** धूम देखने से **(वह्निविज्ञानवत्)** अग्निज्ञान के समान।

सूत्रार्थ—बौद्ध का अविशदरूप निर्विकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है। जैसे-अचानक धुआँ देखने से उत्पन्न हुआ अग्नि ज्ञान

अनुमानाभास है, क्योंकि ये दोनों ही अपने विषयभूत पदार्थ का निश्चय नहीं कराते।

संस्कृतार्थ—अवैशद्ये प्रत्यक्षं प्रत्यक्षाभासमाहुः। यथा बौद्धस्याकस्मात् धूमदर्शनात् वह्निविज्ञानं प्रत्यक्षाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ—अविशद ज्ञान में प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है। जैसे कि बौद्ध लोग अकस्मात् धूम देखने से पैदा हुए अग्नि के ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका यह ज्ञान प्रत्यक्षाभास है।

सरल व्याख्या—अब प्रमाणाभास के भेदों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए पहले प्रत्यक्ष प्रमाणाभास का कथन यहाँ किया गया है।

दूसरे अध्याय के तीसरे सूत्र में बताया गया है कि 'विशदं प्रत्यक्षम्' अर्थात् विशद ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके विपरीत यहाँ अविशद में प्रत्यक्षता कही है इसलिए यह प्रत्यक्षाभास है।

जो स्पष्ट नहीं, निर्मल नहीं ऐसा ज्ञान अविशद है।

जैसे बौद्ध लोग अकस्मात् धुँआ देखने से अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं, तो वह अनुमानाभास है क्योंकि धुँए का भी निश्चय हुए बिना अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। इसी तरह जिस पदार्थ में अविशदता हो फिर भी उसे प्रत्यक्ष कहो तो यह प्रत्यक्षाभास है।

अब परोक्षाभास को कहते हैं—

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥

अन्वयार्थ—(वैशद्ये) विशदज्ञान होने पर **(अपि)** भी **(परोक्षं)** परोक्ष मानना **(तदाभासं)** परोक्षाभास है **(मीमांसकस्य)** मीमांसक के **(करण-ज्ञानवत्)** करणज्ञान के समान।

सूत्रार्थ—विशदज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे—मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं, उनका ऐसा मानना परोक्षाभास है।

संस्कृतार्थ—वैशद्येऽपि परोक्षज्ञानं परोक्षाभासो व्यावर्ण्यते। यथा मीमांसकस्य करणज्ञानं परोक्षाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ—विशदज्ञान में भी परोक्षज्ञान मानना परोक्षाभास कहा जाता है। जैसे—मीमांसक के करणज्ञान को परोक्षाभास जानना चाहिए क्योंकि मीमांसक करणज्ञान को परोक्ष मानते हैं। यह ज्ञान उनका परोक्ष नहीं परोक्षाभास है।

सरल व्याख्या—परोक्ष ज्ञान का जो लक्षण तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में बताया गया था वह यहाँ नहीं होने से परोक्षाभास है।

परोक्ष ज्ञान विशद नहीं होता है फिर भी विशदज्ञान में परोक्षता कहना ही परोक्षाभास है।

मीमांसक लोग इन्द्रिय जन्य ज्ञान को सर्वथा परोक्ष मानते हैं जबकि इन्द्रियजन्य ज्ञान में भी एक देश स्पष्टता है, विशदता है फिर भी उसे परोक्ष कहना परोक्षाभास है।

जैसे प्रत्यक्ष का लक्षण पाए जाने पर मीमांसकों का करणज्ञान परोक्षाभास है उसी प्रकार विशदता में भी परोक्षता कहना परोक्षाभास है।

हम अपने हाथ की हथेली स्पष्ट रूप से प्रकाश में अपनी आँखों से देख रहे हैं और दूसरे को भी दिखला रहे हैं फिर भी कोई मीमांसक की तरह कहे कि नहीं, यह हथेली प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रही है, यह तो परोक्ष है तो हर कोई उसकी बात पर हँसेगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष को परोक्ष ज्ञान कह रहा है। न्याय में इसे ही परोक्षाभास कहा जाता है।

अब आचार्य परोक्ष प्रमाण के भेदों के आभास बतलाते हुए पहले क्रमप्राप्त स्मरणाभास को कहते है—

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥

अन्वयार्थ—**(अतस्मिन्)** उसमें नहीं अर्थात् जिस पदार्थ का पहले कभी धारणारूप से अनुभव नहीं किया उसमें **(तत्)** वह है **(इति)** इस प्रकार के **(ज्ञानं)** ज्ञान को **(स्मरणाभासं)** स्मरणाभास कहते हैं **(यथा)** जैसे **(जिनदत्ते)** जिनदत्त में **(सः)** वह **(देवदत्तः)** देवदत्त है।

सूत्रार्थ—जिस पदार्थ का कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था, वह

है इस प्रकार के ज्ञान को स्मरणाभास कहते हैं जैसे जिनदत्त में वह देवदत्त है ऐसा कहना।

संस्कृतार्थ—अतस्मिन् तदितिज्ञानं स्मरणाभासं। यथा जिनदत्ते स्मृते सः देवदत्तः इति ज्ञानं स्मरणाभासः।

टीकार्थ—जिस पदार्थ का कभी धारणारूप अनुभव नहीं हुआ था, उसमें "वह है इस प्रकार के ज्ञान को" स्मरणाभास कहते हैं। जैसे कि—जिनदत्त का स्मरण करके कहना कि वह देवदत्त। यहाँ देवदत्त को देखा नहीं था स्मरण किया है इसलिए यह स्मरणाभास है।

सरल व्याख्या—परोक्षाभास के सभी भेदों को बतलाते हुए पहले स्मृति परोक्षाभास कहते हैं।

स्मृतिज्ञान का स्वरूप तृतीय अध्याय के तीसरे सूत्र में कहा है।

जिस जिनदत्त को पहले देखा हो उसे पुनः देखा और हमने पहचान लिया कि हाँ यह वह जिनदत्त है तो यह हुआ स्मृतिज्ञान। लेकिन यदि हमने देखा देवदत्त को और याद भी देवदत्त की रही और जिनदत्त को देखकर याद आया कि यह देवदत्त है तो यह स्मरणाभास है। झूठी स्मृति है।

जो पदार्थ है नहीं और उसका स्मरण किया जाये तो स्मरणाभास होता है।

अब प्रत्यभिज्ञानाभास का स्वरूप कहते हैं—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशम्, यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥

अन्वयार्थ—**(सदृशे)** सदृश पदार्थ में **(इदं तत् एव)** "यह वही है" **(तस्मिन्)** उसमें **(एव)** ही यह **(तेन सदृशम्)** उसके सदृश है **(यमलकवत्)** युगपत् जन्मे दो बालकों के समान **(इत्यादि)** इस प्रकार **(प्रत्यभिज्ञानाभासं)** प्रत्यभिज्ञानाभास है।

सूत्रार्थ—सदृश पदार्थ में "यह वही है", ऐसा कहना उसी पदार्थ में "यह उसके सदृश है", ऐसा कहना। जैसे—युगल उत्पन्न हुए दो मनुष्यों में

विपरीत ज्ञान हो जाता है, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है।

संस्कृतार्थ—सदृशे वस्तुनि तदेवेति तथा तस्मिन्नेव वस्तुनि तत् सदृशमिति ज्ञानम् अथवा सादृश्ये एकत्वस्य, एकत्वे वा सादृश्यज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासं कथ्यते। एवमेव वैलक्षण्यादिष्वपि प्रत्येतव्यम्।

टीकार्थ—सदृश वस्तु में "यह वही है" तथा उस ही पदार्थ में "यह उसके समान है", ऐसा ज्ञान अथवा सदृश्य में एकत्व का और एकत्व में सादृश्य का ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास कहलाता है, ऐसा ही वैलक्षण्य आदि में जानना। सूत्र में दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञान को बतलाया गया है। १. एकत्व-निमित्तक २. सादृश्यनिमित्तिक। एकत्व में सादृश्य का और सादृश्य में एकत्व का ज्ञानाभास प्रत्यभिज्ञानाभास है।

सरल व्याख्या—यहाँ दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञानाभास का वर्णन किया गया है।

१. एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभास—सदृश पदार्थ में एकत्व का ज्ञान करना एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास है।

जैसे एक साथ जन्मे दो बालक के नाम जिनदत्त और देवदत्त हैं जो शक्ल से सदृश हैं। अब जिनदत्त को देखकर यह ज्ञान करना कि यह वही देवदत्त है, जो पहले देखा था तो यह एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास हुआ।

२. सदृश प्रत्यभिज्ञानाभास—उसी पदार्थ में समानपने का ज्ञान करना सदृश प्रत्यभिज्ञानाभास है।

जैसे—जिनदत्त को देखकर ही ऐसा सोचने लगे कि यह जिनदत्त के जैसा लग रहा है तो यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास हुआ।

अब तर्काभास को कहते हैं—

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥१०॥

अन्वयार्थ—(असम्बद्धे) अविनाभाव रहित पदार्थ में **(तज्ज्ञानं)** उस अविनाभाव के ज्ञान को **(तर्काभासम्)** तर्काभास कहते हैं।

सूत्रार्थ—अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध

का ज्ञान कराना तर्काभास है।

संस्कृतार्थ—अविनाभावरहितेऽविनाभावज्ञानं, मिथोव्याप्तिविहीने व्याप्तिज्ञानम् वा तर्काभासो निगद्यते। यथा कस्यचिदेकम्पुत्रं कृष्णमालोक्य यावन्तोऽस्य पुत्राः सन्ति भविष्यन्ति वा ते सर्वे कृष्णाः सन्ति भविष्यन्ति वेति ज्ञानं तर्काभासः।

टीकार्थ—अविनाभाव सम्बन्ध से रहित पदार्थ में अविनाभाव का ज्ञान, अन्वय-व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति से रहित होने पर भी व्याप्ति के ज्ञान को तर्काभास कहते हैं। जैसे-किसी के एक पुत्र को काला देखकर इसके जितने पुत्र हैं तथा होवेंगे वे सभी श्याम हैं या होंगे, ऐसी व्याप्ति बनाना तर्काभास है।

सरल व्याख्या—तर्क व्याप्ति से होता है और व्याप्ति अविनाभाव सम्बन्ध से बनती है। अविनाभाव सम्बन्ध के कारण ही साधन,साध्य की सम्बद्धता बनती है। ऐसी सम्बद्धता का अभाव जिसमें पाया जाये वह तर्काभास है।

जैसे किसी ने अनुमान लगाया कि जिनदत्त का बड़ा पुत्र काला है तो उसके सभी पुत्र काले होंगे, यह व्याप्ति ठीक नहीं बैठने से यह तर्काभास है।

अब अनुमानाभास का स्वरूप कहते हैं–

इदमनुमानाभासम् ॥११॥

अन्वयार्थ–(इदम्) यह **(अनुमानाभासम्)** अनुमानाभास है।

सूत्रार्थ—यह अनुमानाभास है (जो आगे कहा जा रहा है)

संस्कृतार्थ—पक्षाभासः, हेत्वाभासो, दृष्टान्ताभासश्चेत्यादयः अनुमानाभासा विज्ञेयाः।

टीकार्थ—पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास आदि इस प्रकार अनुमानाभास जानना चाहिए।

विशेषार्थ—अवयवाभासों के दिखाने से अनुमानस्वरूपाभास स्वयं

सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अनुमान अवयवों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इसलिए आगे अवयवाभास बताये हैं।

सरल व्याख्या—अनुमान का प्रयोग करने में पक्ष, हेतु और दृष्टान्त आदि अवयव प्रयुक्त होते हैं। उनका विपरीत स्वरूप होना ही पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास आदि है। इसलिए यह अनुमानाभास को बताने वाला अधिकार सूत्र है।

जैसे तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय का सूत्र 'वैमानिकाः' है, अर्थात् यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन होता है, उसी प्रकार यहाँ से अनुमानाभास का वर्णन प्रारम्भ होता है।

उस अनुमानाभास के अवयवाभासों को बतलाने से ही समुदायरूप अनुमानाभास का ज्ञान हो जाता है, यह दिखलाते हुए आचार्य पहले उसके प्रथम अवयवभूत पक्षाभास को कहते हैं।

अब पक्षाभास का स्वरूप कहते हैं—

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(तत्र) उनमें **(अनिष्टादिः)** अनिष्ट आदि **(पक्षाभासः)** पक्षाभास है।

सूत्रार्थ—उनमें अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्षाभास कहते हैं। पहले पक्ष या साध्य का लक्षण इष्ट, अबाधित और असिद्ध कह आये हैं। उनसे विपरीत को पक्षाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ—अनिष्टो, बाधितः सिद्धश्च पक्षः पक्षाभासः प्रोच्यते।

टीकार्थ—अनिष्ट, बाधित और सिद्ध पक्ष, पक्षाभास कहा जाता है।

सरल व्याख्या—पक्षाभास तीन प्रकार का है—१. अनिष्ट, २. बाधित, ३. सिद्ध।

पहले जो साध्य या पक्ष का लक्षण बताया था उसमें पक्ष के तीन विशेषण थे। १. इष्ट, २. अबाधित, ३. असिद्ध।

इसी का विपरीत अनिष्ट, बाधित, सिद्ध पक्षाभास है।

यहाँ साध्य, पक्ष, प्रतिज्ञा एकार्थक है।

सोचने की बात है यदि हमारा पक्ष या साध्य हमें ही 'इष्ट' नहीं है तो हम उसकी सिद्धि कैसे करेंगे इसलिए अनिष्ट पक्षाभास है। ऐसा वादी तो अपने ही पक्ष का खण्डन कर देगा।

इसी तरह अपना पक्ष यदि बाधित है अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित है तो वह भी पक्षाभास है।

इसी तरह पक्ष यदि सिद्ध ही है तो उसे क्या सिद्ध करना, इस तरह सिद्ध हुआ पक्ष पक्षाभास है।

अब पक्षाभास के पहले भेद अनिष्टपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥१३॥

अन्वयार्थ–(मीमांसकस्य) मीमांसक के **(शब्दः)** शब्द **(अनित्यः)** अनित्य है **(अनिष्टः)** यह अनिष्ट पक्षाभास है।

सूत्रार्थ–मीमांसक का कहना है कि शब्द अनित्य है, यह अनिष्ट पक्षाभास है।

संस्कृतार्थ–मीमांसकेन शब्दो नित्यो मतः। अतस्तस्य शब्दोऽनित्यः इति कथनम् अनिष्टः पक्षाभासो जायते।

टीकार्थ–मीमांसक के द्वारा शब्द को नित्य माना गया है। इसलिए उसके प्रति शब्द अनित्य ऐसा कहना अनिष्टपक्षाभास होता है।

विशेषार्थ–मीमांसक लोग नित्य को मानते हैं, अतः उन्हें नित्य इष्ट है परन्तु उसके लिए अनित्य कहना ये अनिष्ट पक्षाभास हो जायेगा।

सरल व्याख्या–मीमांसक लोग शब्द को आकाश का गुण मानते हैं तथा शब्द को नित्य मानते हैं, फिर भी अपने मंतव्य के विरुद्ध यदि किसी कारण वश, घबराहट से या सभा की भीड़ को देखकर यह कहने लगे कि शब्द अनित्य है तो उनका यह पक्ष अनिष्ट पक्षाभास है।

अब पक्षाभास के दूसरे भेद, सिद्धपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

सिद्धः श्रावणः शब्दः इति ॥१४॥

अन्वयार्थ–(शब्दः) शब्द **(श्रावणः)** सुना जाने वाला है यह **(इति)** निस्संदेह **(सिद्धः)** सिद्धपक्षाभास है।

सूत्रार्थ–शब्द श्रवणेन्द्रिय का विषय है, यह सिद्धपक्षाभास है।

संस्कृतार्थ–''शब्दः श्रावणः'' इति पक्षः सिद्धपक्षाभासो विज्ञेयः। यतः शब्दः श्रुतः, अतः श्रावणः सिद्ध एव विद्यते, पुनः पक्षं मत्वा सिद्धकरणं निरर्थकमेव।

टीकार्थ–शब्द, कर्ण इन्द्रिय का विषय है इस प्रकार पक्ष, सिद्ध पक्षाभास जानना चाहिए क्योंकि (चूँकि) शब्द सुना जाता है, इसलिए श्रावण सिद्ध है ही। पुनः शब्द को पक्ष मानकर सिद्ध करना निरर्थक है।

सरल व्याख्या–शब्द श्रवण इन्द्रिय का विषय है, यह बात तो वादी, प्रतिवादी सभी को इष्ट है और यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध है फिर भी इसी को सिद्ध करने की प्रतिज्ञा करना सो सिद्धपक्षाभास है। क्योंकि सिद्ध उसे किया जाता है जो प्रतिवादी को असिद्ध है।

अब पक्षाभास के तीसरे भेद बाधितपक्षाभास के भेदों को कहते हैं–

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ॥१५॥

अन्वयार्थ–(प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनों के द्वारा **(बाधितः)** बाधित होता है।

सूत्रार्थ–बाधितपक्षाभास प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन से बाधित होता है।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ–प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, लोक-बाधित और स्ववचनबाधित ये बाधितपक्षाभास के पाँच भेद हैं।

सरल व्याख्या–इस सूत्र में बाधित पक्षाभास के भेद बताए हैं।

बाधित पक्षाभास के पाँच भेद हैं–

१. प्रत्यक्ष बाधित–जो प्रतिज्ञा प्रत्यक्ष से ही बाधित हो वह प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास है।

२. अनुमान बाधित—जो प्रतिज्ञा अनुमान प्रमाण से बाधित हो वह अनुमान बाधित पक्षाभास है।

३. आगम बाधित—जो प्रतिज्ञा सिद्धान्त, आगम के विरुद्ध हो वह आगम बाधित पक्षाभास है।

४. लोकबाधित—जो बात लोक में मान्य न हो वह लोकबाधित पक्षाभास है।

५. स्ववचन बाधित—जिस प्रतिज्ञा में अपने ही वचनों से अपनी बात ही बाधित हो वह स्ववचन बाधित पक्षाभास है।

अब प्रत्यक्षबाधितपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ॥१६॥

अन्वयार्थ–(तत्र) उनमें **(प्रत्यक्षबाधितः)** प्रत्यक्षबाधित **(यथा)** जैसे **(अग्निः)** आग **(अनुष्णः)** ठंडी है **(द्रव्यत्वात्)** द्रव्य होने से **(जलवत्)** पानी के समान।

सूत्रार्थ—उनमें से प्रत्यक्षबाधितपक्षाभास का उदाहरण। जैसे–अग्नि उष्णता रहित है अर्थात् शीतल है क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता, वह शीतल होता है, जैसे–जल।

संस्कृतार्थ—अनुष्णोऽग्निः द्रव्यत्वात् जलवत्। अत्र 'अग्निरनुष्णः' इति पक्षः स्पर्शनप्रत्यक्षेण बाधितो विद्यते, यतः स्पर्शनेनाग्निरुष्णः प्रतीयते। अतोऽयं पक्षः स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण बाधितो विद्यते।

टीकार्थ—अग्नि ठण्डी होती है, क्योंकि वह द्रव्य है। जो द्रव्य होता है वह ठण्डा होता है जैसे–जल। यहाँ "अग्नि ठंडी होती है" यह पक्ष स्पर्शप्रत्यक्ष से बाधित है, क्योंकि छूने से अग्निगर्म मालूम होती है। इस तरह यह पक्ष स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष से बाधित है इसलिए यह प्रत्यक्षबाधितपक्षाभास का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—यदि कोई यह सिद्ध करना चाहे कि अग्नि उष्ण नहीं है और हेतु देवे कि अग्नि ठंडी होती है क्योंकि द्रव्य है। जैसे जल होता है।

अर्थात् जैसे जल ठण्डा है क्योंकि वह द्रव्य है उसी प्रकार अग्नि भी है। यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से सभी जानते हैं कि अग्नि स्पर्शन इन्द्रिय से उष्ण ही अनुभव में आती है फिर भी अग्नि को अनुष्ण कहने की प्रतिज्ञा करना, वास्तव में प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास है।

अब अनुमानबाधितपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् ॥१७॥

अन्वयार्थ–(शब्दः) शब्द **(अपरिणामी)** अपरिणामी है **(कृतकत्वात्)** कृतक (किया जाने वाला) होने से **(घटवत्)** घड़े के समान।

सूत्रार्थ–शब्द अपरिणामी है, कृतक होने से, घड़े के समान।

संस्कृतार्थ–अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। यो यः कृतको विद्यते सः सः अपरिणामी, यथा घटः। अनुमानबाधितपक्षाभासोदाहरणमिदं। यतोऽत्र पक्षे ''शब्दः परिणामी, कृतकत्वात्, यो यः कृतकः सः सः परिणामी, यथा घटः'' इत्यनुमानेन बाधा आयाति।

टीकार्थ– शब्द अपरिणामी (नित्य) होता है, क्योंकि वह किया जाता है, जो जो किया जाता है वह वह अपरिणामी होता है। जैसे–घट। यह अनुमानबाधितपक्षाभास का उदाहरण है। क्योंकि यहाँ पक्ष में 'शब्द परिणामी (अनित्य) होता है, क्योंकि वह किया जाता है, जो जो किया जाता है, वह वह परिणामी होता है। जैसे–घट। इस अनुमान से बाधा आती है। यह अनुबाधितपक्षाभास का उदाहरण है। अर्थात् यहाँ पर 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'कृतक' इस हेतु से बाधित है क्योंकि कृतक हेतु से परिणामिपने की ही सिद्धि होती है।

सरल व्याख्या–यहाँ जो अनुमान प्रमाण दिया गया है वह वस्तुतः अनुमान बाधित प्रमाण है क्योंकि अनुमान हेतु पर टिका होता है। यदि हेतु ही बाधा को प्राप्त हो जाये तो समझो कि वह अनुमानभास है।

यहाँ कहा गया है कि शब्द परिणमनशील नहीं है क्योंकि शब्द कृतक है। भला जो पदार्थ कृतक है अर्थात् किसी का बनाया हुआ है वह अपरिणामी कैसे होगा? घड़ा कृतक तो है लेकिन अपरिणामी तो नहीं है इसलिए

कृतक हेतु पक्ष को अनुमान से बाधित करता है। अतः शब्द अपरिणामी है, यह अनुमान बाधित पक्षाभास है।

अब आगमबाधितपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ॥१८॥

अन्वयार्थ–(धर्मः) धर्म **(प्रेत्यासुखप्रदः)** परलोक में दुःख देने वाला है **(पुरुषाश्रितत्वात्)** पुरुषाश्रित होने से **(अधर्मवत्)** अधर्म के समान।

सूत्रार्थ–धर्म परलोक में दुःख देने वाला होता है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रित है, जैसे–अधर्म।

संस्कृतार्थ–प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः, पुरुषाश्रितत्वात्, अधर्मवत्। यो यः पुरुषाश्रितः सः सः दुःखदायी, यथा अधर्मः। अत्रायं पक्षः आगमबाधितो वर्तते। यतः आगमे धर्मः सुखदायी प्रोक्तः, अधर्मश्च दुःखदायी प्रोक्तः। यद्यपि द्वावपीमौ पुरुषाश्रितौ, तथापि भिन्नस्वभावौ विद्येते।

टीकार्थ–धर्म (पुण्य) परलोक में दुःखदायी होता है क्योंकि वह पुरुष के आश्रय से होता है, जो जो पुरुष के आश्रय से होता है वह–वह दुःखदायी होता है जैसे–अधर्म (पाप)। यहाँ यह पक्ष आगम से बाधित है, क्योंकि आगम में धर्म को सुखदायी और अधर्म को दुःखदायी बतलाया गया है, यद्यपि दोनों पुरुष के आश्रय से होते हैं तथापि वे भिन्न स्वभाव वाले हैं। यह आगमबाधितपक्षाभास का उदाहरण है।

सरल व्याख्या–इस सूत्र में अनुमान बनाया गया है कि–धर्म परभव में दुःख देने वाला है क्योंकि पुरुष के आश्रित है। जो–जो पुरुष के आश्रित होता है वह सब दुःख देने वाला होता है जैसे अधर्म।

इस वाक्य में प्रतिज्ञा आगम विरुद्ध है। आगम भी प्रमाण है और आगम में धर्म को सुख देने वाला कहा है अतः यह पक्ष आगम बाधित पक्षाभास है कि धर्म परभव में दुःख देने वाला है।

अब लोकबाधितपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं–

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(नरशिरःकपालं) मनुष्य के शिर/सिर का कपाल/खोपड़ी

(शुचिः) पवित्र है **(प्राण्यङ्गत्वात्)** जीव का अंग होने से **(शङ्खशुक्तिवत्)** शंख, सीप के समान।

सूत्रार्थ—मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है, प्राणी का अंग होने से जैसे शंख और सीप।

संस्कृतार्थ—शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खशुक्तिवत्। यच्च प्राण्यङ्गं तत् पवित्रं, यथा शङ्खः, शुक्तिश्चेति। अत्रायं पक्षो लोकबाधितो विद्यते। यतो लोके प्राण्यङ्गत्वेऽपि किञ्चिद् वस्तु पवित्रं किञ्चिच्चापवित्रं मतम्।

टीकार्थ—मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र होता है क्योंकि वह प्राणी का अंग है जो जो प्राणी का अंग होता है वह वह पवित्र होता है जैसे शंख और सीप। यहाँ यह पक्ष लोकबाधित है, क्योंकि लोक में प्राणी का अंग होते हुए भी कोई वस्तु पवित्र होती है और कोई अपवित्र होती है, ऐसी मानी गयी है। अतः यह लोकबाधितपक्षाभास का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—जो जो प्राणी के अंग होते हैं वह पवित्र होते हैं जैसे शंख, सीप। यह अनुमान प्रयोग है और पक्ष है—"मनुष्य के शिर का कपाल पवित्र है।"

यहाँ पक्ष या की गई पतिज्ञा लोक में मान्य नहीं है। लोक में ऐसी स्वीकारता नहीं है इसलिए यह पक्ष लोक बाधित पक्षाभास है।

शंख, मोती, सीप भी प्राणी के शरीर के अवयव हैं फिर भी मनुष्य की खोपड़ी और इन शंख आदि में बहुत अन्तर है। देखो लोक में गाय का दूध तो पवित्र माना है और रक्त अपवित्र। अतः प्राणी के अंग होने मात्र से सभी पक्ष एक समान मान्य नहीं हो सकते हैं।

अब स्ववचनबाधितपक्षाभास का उदाहरण कहते हैं—

माता मे बन्ध्या, पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबन्ध्यावत् ॥२०॥

अन्वयार्थ—(मे) मेरी **(माता)** माँ **(बन्ध्या)** बाँझ है **(पुरुषसंयोगे)** पुरुष का संयोग होने पर **(अपि)** भी **(अगर्भत्वात्)** गर्भ नहीं रहने से

(प्रसिद्धबन्ध्यावत्) प्रसिद्ध बन्ध्या के समान।

सूत्रार्थ—मेरी माता बन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता। जैसे—प्रसिद्ध बन्ध्या स्त्री।

संस्कृतार्थ—माता मे बन्ध्या, पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्ध-बन्ध्यावत्। स्वस्मिन् पुत्रत्वं, जनन्यां मातृत्वं वा स्वीकुर्वन्नपि कथयति, यन्माता मे बन्ध्या। अतोऽत्रायं पक्षः स्ववचनबाधितो विद्यते।

टीकार्थ—मेरी माता बन्ध्या है, पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता प्रसिद्ध बन्ध्या के समान। अपने में पुत्रपने का, जननी में मातापने को स्वीकार करता हुआ भी कहता है कि कि मेरी माता बन्ध्या है। इसलिए यहाँ यह पक्ष उसी के वचन (मेरी माता) से बाधित है। यह स्ववचन- बाधित का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—जो पुरुष कह रहा है कि मेरी माता बाँझ है, उसकी यह बात स्पष्ट रूप से समझ आती है कि उसके अपने वचनों से अपने कथन में ही बाधा आ रही है। भला, जो पुत्र है तो वह बन्ध्या माँ से कैसे उत्पन्न होगा ? इसलिए यह स्ववचन बाधित पक्षाभास है।

पक्षाभास

१. अनिष्ट पक्षाभास	२. सिद्ध पक्षाभास	३.बाधित पक्षाभास
१. प्रत्यक्ष बाधित	२. अनुमान बाधित	३. आगम बाधित
४. लोक बाधित	५. स्ववचन बाधित	

अब हेत्वाभासों के भेदों को कहते हैं—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥२१॥

अन्वयार्थ—(असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः) असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, अकिञ्चित्कर **(हेत्वाभासाः)** हेत्वाभास हैं।

सूत्रार्थ—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास के भेद हैं।

संस्कृतार्थ—असिद्धः, विरुद्धः, अनैकान्तिकः, अकिञ्चित्करश्चेति

चत्वारो हेत्वाभासा विद्यन्ते।

टीकार्थ—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर के भेद से हेत्वाभास चार प्रकार का है।

सरल व्याख्या—अध्याय-३ के सूत्र ११ में हेतु का लक्षण बताया गया है कि हेतु वह है जिसका साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित है। यदि हेतु का यह लक्षण नहीं पाया जाता है तो सभी हेतु हेत्वाभास कहलाते हैं।

ऐसे हेत्वाभास चार प्रकार के हैं–१. असिद्ध हेत्वाभास, २. विरुद्ध हेत्वाभास, ३. अनैकान्तिक हेत्वाभास, ४. अकिञ्चित्कर हेत्वाभास।

अब क्रमप्राप्त असिद्धहेत्वाभास का स्वरूप कहते हैं–

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥२२॥

अन्वयार्थ—(असत्सत्तानिश्चयः) जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे **(असिद्धः)** असिद्धहेत्वाभास कहते हैं।

सूत्रार्थ—जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ—स्वरूपासिद्धः सन्दिग्धासिद्धश्चेति द्वौ असिद्धहेत्वाभास-भेदौ स्तः। तत्राविद्यमानसत्ताको हेतुः स्वरूपासिद्धः अविद्यमाननिश्चयो वा हेतुः सन्दिग्धासिद्धो हेत्वाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ—स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ये दो भेद असिद्धहेत्वाभास के हैं। उसमें अविद्यमान सत्ता वाला अर्थात् जिस हेतु की सत्ता का अभाव है वह हेतु स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है और पक्ष में जिस हेतु का निश्चय न हो वह हेतु सन्दिग्धासिद्धहेत्वाभास जानना चाहिए।

सरल व्याख्या—असिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का है–

१. असत्सत्ता हेत्वाभास—जिस हेतु की सत्ता ही न हो अथवा जिस हेतु का स्वरूप से ही अभाव हो वह असत्सत्ता हेत्वाभास है। इसी को अविद्यमान सत्ताक हेत्वाभास या स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

२. अनिश्चय हेत्वाभास—जिस हेतु के रहने का निश्चय न हो, सन्देह हो उसे अनिश्चय हेत्वाभास कहते हैं। इसी को अविद्यमान निश्चय हेत्वाभास या सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।

अब असिद्धहेत्वाभास के प्रथमभेद स्वरूपासिद्धहेत्वाभास को कहते हैं–

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥२३॥

अन्वयार्थ—**(शब्दः)** शब्द **(परिणामी)** परिणामी अर्थात् अनित्य है **(चाक्षुषत्वात्)** चाक्षुष होने से यह **(अविद्यमानसत्ताकः)** अविद्यमान सत्ता वाला स्वरूपासिद्धहेत्वाभास का उदाहरण है।

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी (अनित्य) है, क्योंकि चाक्षुष है, यह अविद्यमान सत्ता वाला स्वरूपासिद्धहेत्वाभास का उदाहरण हैं।

संस्कृतार्थ—परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्। अत्रायं चाक्षुषत्वं हेतुः स्वरूपासिद्धो विद्यते। यतः शब्दो नेत्राभ्यां ज्ञायते, किन्तु कर्णाज्ज्ञायते अतोऽविद्यमानसत्ताकत्वेन स्वरूपासिद्धो जातः।

टीकार्थ—शब्द परिणामी (अनित्य) होता है क्योंकि वह ''चक्षु से जाना जाता है''। यहाँ यह ''चक्षु से जाना जाता है'' यह हेतु स्वरूप से ही असिद्ध है। क्योंकि शब्द चक्षु से नहीं जाना जाता किन्तु कर्ण से जाना जाता है इसलिए अविद्यमान सत्तावाला होने से यह 'चाक्षुषत्वात्' स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास का उदाहरण है।

सरल व्याख्या—यहाँ अविद्यमान सत्ताक हेत्वाभास का कथन दृष्टान्त देकर किया है।

शब्द परिणामी है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से जाना जाता है। यहाँ जो चक्षुइन्द्रिय से जानना, यह हेतु दिया है, यह हेतु स्वरूप से ही असिद्ध है अथवा यूँ कहें कि यह हेतु ही नहीं है क्योंकि सभी जानते हैं कि शब्द कभी भी चक्षु इन्द्रिय से नहीं जाना जाता है, शब्द तो कर्ण इन्द्रिय का विषय है। इसलिए यह चाक्षुष हेतु की सत्ता अविद्यमान होने से अविद्यमान सत्ताक असिद्ध हेत्वाभास है।

अब इस हेतु के असिद्धपना कैसा है, इसके विषय में कहते हैं–

स्वरूपेणासत्त्वात् ॥२४॥

अन्वयार्थ–(स्वरूपेण) स्वरूप से **(असत्त्वात्)** असत् होने से।

सूत्रार्थ–क्योंकि शब्द का चाक्षुष होना स्वरूप से ही असिद्ध है।

संस्कृतार्थ–शब्दः कर्णेन ज्ञायते चक्षुषा नो। अतः शब्दस्य चाक्षुषत्वं व्यावर्णनं स्वरूपेणैव नोचितम्।

टीकार्थ–शब्द कर्ण इन्द्रिय से जाना जाता है, चक्षु इन्द्रिय से नहीं। इसलिए शब्द के चाक्षुषपने का कथन स्वरूप से ही ठीक नहीं है।

सरल व्याख्या–पूर्व सूत्र में उदाहरण में जो 'चाक्षुष' हेतु दिया गया है वह स्वरूप से ही, स्वतः ही असत् है।

इस तरह असिद्ध हेत्वाभास के प्रथम भेद को उदाहरण और कारण सहित इन दो सूत्रों में कह दिया है।

अब आचार्य असिद्धहेत्वाभास के दूसरे भेद को कहते हैं–

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ॥२५॥

अन्वयार्थ–(मुग्धबुद्धिं प्रति) अजान व्यक्ति से यह कहना **(अत्र)** यहाँ **(अग्निः)** अग्नि है **(धूमात्)** धूम होने से **(अविद्यमाननिश्चयः)** अविद्यमान निश्चय वाला संदिग्धासिद्धहेत्वाभास है।

सूत्रार्थ–अजान पुरुष के प्रति कहना यहाँ अग्नि है धूम होने से। यहाँ यह धूमहेतु अविद्यमान निश्चय वाला संदिग्धासिद्धहेत्वाभास का उदाहरण है।

संस्कृतार्थ–मुग्धम्प्रति अग्निरत्र धूमात् इति कथनं, संदिग्धासिद्धो-हेत्वाभासोः विज्ञेयः।

टीकार्थ–अज्ञानी पुरुष से कहना कि यहाँ अग्नि है, धूम होने से, इस प्रकार का कथन उनके लिए संदिग्धासिद्धहेत्वाभास है।

सरल व्याख्या–इस सूत्र में यह बताया गया है कि असिद्ध हेत्वाभास का जो दूसरा भेद अनिश्चय हेत्वाभास है, वह कैसा होता है ?

जो मुग्ध बुद्धि अर्थात् कम बुद्धि वाला या भोलाभाला मनुष्य है उसके लिए यह कहना कि यहाँ अग्नि है, धूम होने से तो यह अनुमान उसको अविद्यमान निश्चय नामक हेत्वाभास है।

यह हेतु हेत्वाभास क्यों है, इसका कारण अगले सूत्र में कहते हैं।

अब इस धूमहेतु की भी असिद्धता कैसे है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं–

तस्य वाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात् ॥२६॥

अन्वयार्थ–(भूतसङ्घाते) भूतसंघात में **(वाष्पादिभावेन)** वाष्प/भाप आदि की अवस्था होने से **(तस्य)** उस अजान व्यक्ति के **(संदेहात्)** संदेह हो जाने से, धूमहेतु की असिद्धता सिद्ध है।

सूत्रार्थ–क्योंकि उसे भूतसंघात में भाप आदि के रूप से संदेह हो सकता है।

संस्कृतार्थ–मुग्धबुद्धिं प्रति धूमहेतुरतः स्वरूपासिद्धो हेत्वाभासो विद्यते, यतस्तस्य भूतसङ्घाते वाष्पादिदर्शनात् संदेह उत्पद्यते। यदत्र वह्निः वर्तते, वर्तेत वा।

टीकार्थ–अजान व्यक्ति के प्रति धूमहेतु इसलिए सन्दिग्धासिद्ध-हेत्वाभास है, क्योंकि उसके भूतसंघात में वाष्पादि के देखने से संदेह उत्पन्न हो जाता है कि यहाँ भी अग्नि है अथवा होगी।

विशेषार्थ–भूतसंघात–चूल्हे आदि से तत्काल उतारी हुई बटलोई, दाल-भात आदि के पात्र जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चारों रहते हैं और भाप भी निकलती रहती है।

सरल व्याख्या–यहाँ भूतसंघात से तात्पर्य उस पात्र से है जिसमें से भाप निकल रही है और जो अभी-अभी चूल्हे से उतारा गया है।

पिछले सूत्र में 'धुँआ' हेतु दिया है। उसका निश्चय अविद्यमान है।

हेतु का अनिश्चय इसलिए है कि–जो मुग्ध बुद्धि, मूर्ख व्यक्ति है वह धुँए और भाप में अन्तर नहीं समझ पाता है। वह कभी धुँए को भाप और भाप को धुँआ समझ लेता है इसलिए उसके लिए यह हेतु सन्दिग्ध असिद्ध

है।

मुग्ध बुद्धि पुरुष बटलोई से निकलती हुई भाप को धुँआ समझकर उसमें अग्नि होने का अनुमान लगा लेता है।

इतना विशेष ध्यान रखें कि यह हेतु मात्र मुग्ध बुद्धि मनुष्य के लिए हेत्वाभास है।

अब असिद्धहेत्वाभास का और भी दृष्टान्त कहते हैं–

सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥२७॥

अन्वयार्थ–(सांख्यम्प्रति) सांख्य के प्रति यह कहना कि **(शब्दः)** शब्द **(परिणामी)** परिणामी है **(कृतकत्वात्)** किया जाने वाला होने से।

सूत्रार्थ–सांख्य के प्रति यह कहना है कि शब्द परिणामी है क्योंकि वह किया जाता है। यह 'कृतकत्वात्' हेतु सांख्य के प्रति असिद्धहेत्वाभास है।

संस्कृतार्थ–परिणामी शब्दः कृतकत्वादिति कथनं सांख्यम्प्रत्यसिद्धो हेत्वाभासो विद्यते।

टीकार्थ–शब्द परिणामी है, कृतक होने से। इस प्रकार के कथन को सांख्य के प्रति कहना असिद्धहेत्वाभास है।

सरल व्याख्या–शब्द परिणामी है, कृतक होने से, यद्यपि यह अनुमान सही है कि–जो कृतक होता है वह परिणमन शील (Changable) होता है। सभी पदार्थों में परिणमन होते हुए भी कृतक पदार्थों का परिणमन तो स्पष्ट ही जानने में आता है, फिर भी यह हेतु सांख्य मत को मानने वालों को अविद्यमान निश्चय नाम का हेत्वाभास है।

यह हेत्वाभास क्यों है इसका कारण आगे सूत्रकार कहते हैं।

इतना विशेष ध्यान रखें कि यह हेतु मात्र सांख्यों के लिए हेत्वाभास है।

अब आचार्य इस हेतु की असिद्धता में कारण बतलाते हैं–

तेनाज्ञातत्वात् ॥२८॥

अन्वयार्थ–(तेन) उसके द्वारा कृतकता **(अज्ञातत्वात्)** अज्ञात होने से।

सूत्रार्थ–क्योंकि उसने कृतकपना जाना ही नहीं है।

संस्कृतार्थ–सांख्यसिद्धान्ते आविर्भावतिरोभावावेव प्रसिद्धौ नोत्पत्ति-विनाशौ। अतः शब्दस्य कृतकत्वं तद्दृष्टौ असिद्धो हेत्वाभासो जायते।

टीकार्थ–सांख्य के सिद्धान्त में आविर्भाव और तिरोभाव ही प्रसिद्ध हैं उत्पत्ति और विनाश नहीं है। इसलिए शब्द का कृतकपना उसकी दृष्टि में असिद्धहेत्वाभास है।

विशेषार्थ–सांख्य कृतकता–कृतकपने को मानता ही नहीं है, क्योंकि उसके यहाँ आविर्भाव (प्रकटपना) और तिरोभाव (आच्छादनपना) ही प्रसिद्ध हैं, उत्पत्ति और विनाश नहीं। इसलिए शब्द का कृतकपना उसकी दृष्टि में असिद्धहेत्वाभास है।

सरल व्याख्या–क्योंकि उन सांख्यों ने कृतकपना जाना ही नहीं है।

सांख्य लोग किसी भी कार्य को कृतक हेतु से मानते ही नहीं है। ये लोग मानते हैं कि सब कुछ सब जगह सभी पदार्थों में रहता है। मात्र किन्हीं कारणों से उसका आविर्भाव कर दिया जाता है। उससे पहले उसका तिरोभाव (छिपा होना) था। इसलिए उनको कृतक हेतु अज्ञात है।

जैसे कुम्भकार ने घड़ा बनाया तो सांख्य लोग यह नहीं मानते कि कुम्भकार ने बनाया। वह कहते हैं कि वह घड़ा तो मिट्टी में पहले से ही था उसका मात्र आविर्भाव (प्रकट होना) हुआ है।

इस तरह जब सांख्य लोग कृतकत्व हेतु ही नहीं मान रहे हैं तो पूर्वोक्त उदाहरण में जो शब्द को परिणामी सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु दिया है वह उन सांख्यों के लिए अनिश्चय हेत्वाभास या सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है।

अब आचार्य विरुद्धहेत्वाभास को कहते हैं–

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः

कृतकत्वात् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(विपरीतनिश्चिताविनाभावः) साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभाव वाला **(विरुद्धः)** विरुद्धहेत्वाभास है जैसे **(शब्दः)** शब्द **(अपरिणामी)** अपरिणामी है **(कृतकत्वात्)** कृतक होने से।

सूत्रार्थ—साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, उसे विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं, जैसे शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है।

संस्कृतार्थ—साध्यविरुद्धेन (विपक्षेण) सह निश्चिताविनाभावो हेतुः विरुद्धो हेत्वाभासो निरूप्यते। यथा अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। अत्रास्य हेतोरपरिणामित्वविरुद्धेन परिणामित्वेन सह व्याप्तिः विद्यते, अतोऽयं हेतुः विरुद्धहेत्वाभासः सुसिद्धः।

टीकार्थ—साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ निश्चित अविनाभाव वाला हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। जैसे शब्द अपरिणामी है, कृतक होने से। यहाँ इस हेतु का अपरिणामी के विरुद्ध परिणामी के साथ व्याप्ति है, अर्थात् इस अनुमान में अपरिणामित्व साध्य है, परन्तु कृतकत्व हेतु उसके साथ व्याप्ति नहीं रखता है, किन्तु उससे उल्टे परिणामीपने के साथ व्याप्ति रखता है, इसलिए यह हेतु विरुद्धहेत्वाभास अच्छी तरह से सिद्ध है।

सरल व्याख्या—जहाँ पर व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध साध्य के विरुद्ध हो तो वहाँ विरुद्ध हेत्वाभास होता है।

जैसे इस दृष्टान्त में हेतु की व्याप्ति साध्य के साथ नहीं है किन्तु विरुद्ध साध्य से है। शब्द अपरिणामी (नित्य) है क्योंकि किसी के द्वारा किया हुआ है। कृतक हेतु की व्याप्ति तो परिणामी पदार्थ के साथ है और यहाँ अपरिणामी के साथ बनाई है इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अब आचार्य अनैकान्तिकहेत्वाभास का स्वरूप कहते हैं—

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥३०॥

अन्वयार्थ—(विपक्षे) विपक्ष में **(अपि)** भी **(अविरुद्धवृत्तिः)**

अविरुद्ध प्रवृत्ति वाला **(अनैकान्तिकः)** अनैकान्तिकहेत्वाभास है।

सूत्रार्थ—जिसका विपक्ष में भी रहना अविरुद्ध है, अर्थात् जो हेतु पक्ष, सपक्ष के समान विपक्ष में भी बिना किसी विरोध के रहता है, उसे अनैकान्तिकहेत्वाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ—पक्षे, सपक्षे वा विद्यमानोऽपि विपक्षवृत्तिः हेतुरनैकान्तिको हेत्वाभासः।

टीकार्थ—पक्ष में अथवा सपक्ष में विद्यमान होकर भी विपक्षवृत्ति वाला हेतु अनैकान्तिकहेत्वाभास है।

विशेषार्थ—संदिग्ध साध्य वाले धर्मी को **पक्ष** कहते हैं। साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को **सपक्ष** कहते हैं। साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को **विपक्ष** कहते हैं। हेतु का पक्ष और सपक्ष में रहना तो गुण है, परन्तु विपक्ष में रहना दोष है। जो हेतु इन तीनों में रहता है उसे अनैकान्तिक या व्यभिचारी हेतु कहते हैं। इस हेतु के दो भेद हैं—१. निश्चितविपक्षवृत्ति, २. शंकितविपक्ष-वृत्ति।

सरल व्याख्या—सूत्र में आए 'अपि' शब्द से पक्ष, सपक्ष का ग्रहण करना है। जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों में पाया जाये वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। इसी को व्यभिचारी हेत्वाभास भी कहते हैं।

सन्दिग्ध साध्य वाले धर्मी को पक्ष कहते हैं। जहाँ साध्य है या नहीं यह सिद्ध करना हो वह पक्ष है। जैसे—पर्वत। साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं। जैसे—रसोईघर। साध्य से विरुद्ध धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे—तालाब।

जैसे कोई व्यक्ति कांग्रेस का हो तो यह पक्ष हुआ। साथ में वह व्यक्ति कांग्रेस समर्थक किसी अन्य पार्टी के साथ भी मिला हो तो सपक्ष में जाना हुआ। और वही व्यक्ति यदि विरोधी पार्टी भाजपा में भी मिला है तो वह विपक्ष में भी हुआ। ऐसा व्यक्ति ही व्यभिचारी कहलाता है।

अब आचार्य निश्चितविपक्षवृत्ति का उदाहरण कहते हैं—

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत् ॥३१॥

अन्वयार्थ—(शब्दः) शब्द **(अनित्यः)** अनित्य है **(प्रमेयत्वात्)** प्रमेय होने से **(घटवत्)** घट के समान यह **(निश्चितवृत्तिः)** निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिकहेत्वाभास है ।

सूत्रार्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है अर्थात् प्रमाण का विषय है। जो प्रमेय होता है, वह अनित्य होता है जैसे—घट। यह निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकान्तिकहेत्वाभास का उदाहरण है।

संस्कृतार्थ—अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्। अयं प्रमेयो हेतुः पक्षे शब्दे सपक्षे घटे वा विद्यमानोऽपि विपक्षे आकाशेऽपि तिष्ठति, अतोऽनैकान्तिकः प्रोच्यते। विपक्षे च तस्य वृत्तिः निश्चिता अतो अनैकान्तिक-निश्चित-विपक्षवृत्तिहेत्वाभासः उच्यते।

टीकार्थ—शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से, घट के समान। यह प्रमेयरूप हेतु, पक्ष में (शब्द में) सपक्ष में (घट में) अथवा विद्यमान होने पर भी विपक्ष में (आकाश में) रहता है इसलिए अनैकान्तिक कहा जाता है। और विपक्ष में उसकी वृत्ति निश्चित है इसलिए, अनैकान्तिकनिश्चितविपक्षवृत्तिहेत्वाभास कहा जाता है।

सरल व्याख्या—प्रमाण का विषय प्रमेय होता है जैसे ज्ञान का विषय ज्ञेय होता है।

प्रमेय, ज्ञेय समानार्थक हैं। जिस हेतु की वृत्ति पक्ष, सपक्ष के साथ विपक्ष में निश्चित है वह निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। यहाँ हेतु है—प्रमेयत्वात्—प्रमेय होना। अनुमान प्रयोग—शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से जैसे—घट। अर्थात् जो-जो प्रमेय होते हैं, वे अनित्य होते हैं। जैसे कि घड़ा।

इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु हेत्वाभास क्यों है? उसका कारण अगले सूत्र में कहते हैं।

अब आचार्य प्रमेयत्वहेतु की भी विपक्ष में वृत्ति कैसे निश्चित है, इसी का उत्तर देते हैं—

आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(नित्ये आकाशे) नित्य आकाश में **(अपि)** भी **(अस्य)** इसका अर्थात् प्रमेयत्वहेतु का **(निश्चयात्)** निश्चय होने से।

सूत्रार्थ—क्योंकि नित्य आकाश में भी इस प्रमेयत्वहेतु के रहने का निश्चय है।

संस्कृतार्थ—विपक्षे नित्ये आकाशेऽप्यस्य प्रमेयत्वहेतोः निश्चयादयं निश्चितविपक्षवृत्तिरुच्यते।

टीकार्थ—नित्य आकाशरूप विपक्ष में भी इस प्रमेयत्वहेतु के रहने का निश्चय होने से यह प्रमेयत्वहेतु निश्चितविपक्षवृत्तिहेत्वाभास है।

विशेषार्थ—प्रमेयत्वहेतु पक्ष शब्द में और सपक्ष घट में रहता हुआ अनित्य के विपक्षी नित्य आकाश में भी रहता है, क्योंकि आकाश भी निश्चत रूप से प्रमाण का विषय है।

सरल व्याख्या—पूर्व सूत्र में कहे दृष्टान्त में हेतु - प्रमेयत्व, साध्य-अनित्य है। प्रमेयत्व हेतु का पक्ष शब्द है, इसलिए इस हेतु की वृत्ति पक्ष में सिद्ध है। प्रमेयत्व हेतु का सपक्ष घट है, इसलिए इस हेतु की वृत्ति सपक्ष में सिद्ध है। प्रमेयत्व हेतु का विपक्ष आकाश है, इसलिए इस हेतु की वृत्ति विपक्ष में सिद्ध है। पहले बताया है कि साध्य से विपरीत धर्म वाला पक्ष विपक्ष होता है। यहाँ साध्य था—अनित्य। इसका विपरीत हुआ—नित्य। नित्य साध्य को धारण करने वाला पक्ष आकाश है, इसलिए आकाश विपक्षधर्मी हुआ।

चूँकि इस प्रमेयत्व हेतु की वृत्ति विपक्ष में भी निश्चित है इसलिए यह निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास सिद्ध हुआ।

जैसे शब्द ज्ञान का विषय है, घट ज्ञान का विषय है, उसी तरह आकाश भी ज्ञान का विषय है, इसलिए यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रमेय (ज्ञान का विषय) होने से शब्द अनित्य है। अरे भाई! जब ज्ञान का विषय आकाश भी है तो फिर हेतु अबाधित नहीं रहा इसीलिए हेत्वाभास है।

अब आचार्य शंकितविपक्षवृत्ति-अनैकान्तिक-हेत्वाभास को कहते हैं—

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥३३॥

अन्वयार्थ–(सर्वज्ञः) सर्वज्ञ **(नास्ति)** नहीं है **(तु)** क्योंकि **(वक्तृत्वात्)** वक्ता होने से यह **(शङ्कितवृत्तिः)** शंकितविपक्षवृत्ति–अनैकान्तिकहेत्वाभास है।

सूत्रार्थ–सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है अर्थात् बोलने वाला है यह शंकितविपक्षवृत्ति–अनैकान्तिकहेत्वाभास का उदाहरण है।

संस्कृतार्थ–नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्। सत्यपि वक्तृत्वे सर्वज्ञत्वस्या-विरोधः। अर्थादस्य हेतोः विपक्षे वृत्तिः सम्भाव्यते, अत एवायं हेतुः शङ्कित-विपक्षवृत्तिर्विद्यते।

टीकार्थ–सर्वज्ञ नहीं है, वक्ता होने से। वक्तापना रहने पर भी सर्वज्ञपने का अविरोधपना है। अर्थात् इस हेतु के विपक्ष में वृत्ति संभव होने से इसलिए ही यह हेतु शंकितविपक्षवृत्ति है।

सरल व्याख्या–अनैकान्तिक हेत्वाभास का दूसरा भेद शंकितवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है। उसी का यहाँ वर्णन है।

जिस हेतु का विपक्ष में सन्देह रहे अर्थात् यह हेतु विपक्ष में रह सकता है या नहीं रह सकता इस प्रकार की शंका होने से शंकित वृत्ति नाम का अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

इस उदाहरण में हेतु–वक्तृत्वात्–वक्ता होना है।

अनुमान प्रयोग–सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वे वक्ता हैं। अर्थात् जो–जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता है। ऐसा अनुमान लगाकर वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञ का निषेध करना शंकितवृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यह हेत्वाभास क्यों है ? इसका कारण आगे के सूत्र में कहते हैं।

अब इस वक्तृत्वहेतु का भी विपक्ष में रहना कैसे शंकित है, ऐसी आशंका होने पर उत्तर सूत्र कहते हैं–

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(सर्वज्ञत्वेन) सर्वज्ञ के साथ **(वक्तृत्वाविरोधात्)** वक्तापने

का विरोध नहीं होने से।

सूत्रार्थ—क्योंकि सर्वज्ञपने के साथ वक्तापने का कोई विरोध नहीं है।

संस्कृतार्थ—सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधादयं हेतुः सर्वज्ञसद्भावरूपे विपक्षेऽपि सम्भवेत्। अतएवास्य शंकितविपक्षवृत्तिसंज्ञा सार्थिकैव।

टीकार्थ—सर्वज्ञपने के साथ वक्तापने का कोई विरोध नहीं होने से यह हेतु सर्वज्ञ के सद्भावरूप विपक्ष में भी रह सकता है। इसलिए इसकी शंकितविपक्षवृत्तिसंज्ञा सार्थक ही है।

विशेषार्थ—सर्वज्ञता के साथ वक्तापने का अविरोध इसलिए है कि ज्ञान के उत्कर्ष में वचनों का अपकर्ष नहीं देखा जाता है प्रत्युत प्रकर्षता ही देखी जाती है। किसी पुरुष विशेष में वक्तापना भी रह जाये और सर्वज्ञपना भी रह जाये, इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। इसलिए इस वक्तृत्वहेतु को शंकितविपक्षवृत्तिहेत्वाभास कहा गया है, क्योंकि सर्वज्ञ के सद्भाव का विपक्ष में उस वक्तृत्वहेतु के रहने की शंका है।

सरल व्याख्या—वक्तृत्व हेतु है। साध्य–सर्वज्ञ नहीं है।

साध्य का विपरीत–सर्वज्ञ का सद्भाव हुआ। यही विपक्ष है।

चूँकि यह हेतु शंकितवृत्ति के साथ विपक्ष में भी रहता है इसलिए यह शंकित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

क्या सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकते हैं? जो वक्ता भी हो, सर्वज्ञ भी हो ये दोनों बातें क्या सम्भव हैं? इस प्रकार की वृत्ति यहाँ शंकित वृत्ति है।

चूँकि सर्वज्ञ के साथ वक्तृत्वपने का विरोध नहीं है, अर्थात् सर्वज्ञ भी वक्ता होते हैं इसलिए पूर्वोक्त वक्तृत्व हेतु हेत्वाभास है।

अब अकिञ्चित्करहेत्वाभास के स्वरूप को कहते हैं–

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥३५॥

अन्वयार्थ–(साध्ये सिद्धे) साध्य के सिद्ध होने पर **(च)** और **(प्रत्यक्षादिबाधिते)** प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर **(हेतुः)** हेतु **(अकिञ्चित्करः)** अकिञ्चित्कर है।

सूत्रार्थ—साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर प्रयुक्त हेतु अकिञ्चित्करहेत्वाभास कहलाता है।

संस्कृतार्थ—साध्ये सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते वा सति हेतुः किञ्चिदपि कर्तुं नो शक्नुयात् अतएव सोऽकिञ्चित्करः हेत्वाभासः प्रोच्यते।

टीकार्थ—साध्य के सिद्ध होने पर तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर हेतु कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए वह अकिञ्चित्करहेत्वाभास कहा जाता है।

विशेषार्थ—जब साध्य सिद्ध हो या प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण से बाधित हो तब उसकी सिद्धि के लिए जो भी हेतु दिया जाये वह साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं करता है, इसलिए उसे अकिञ्चित्कर कहते हैं।

सरल व्याख्या—न किञ्चित् करोति इति अकिञ्चित्करः अर्थात् जो कुछ नहीं करता है वह अकिञ्चित्कर है।

जो हेतु कुछ भी साध्य की सिद्धि न करे वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहलाता है।

यह दो प्रकार का है–१. जब साध्य स्वयं सिद्ध है, फिर भी उसकी सिद्धि के लिए हेतु देना सिद्ध साध्य अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है।

२. जब साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित हो, फिर भी उसकी सिद्धि के लिए हेतु देना बाधित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है।

अब सिद्धसाध्य-अकिञ्चित्करहेत्वाभास का उदाहरण देते हैं–

सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ॥३६॥

अन्वयार्थ–(शब्दः) शब्द **(श्रावणः)** कर्णइन्द्रिय का विषय है **(शब्दत्वात्)** शब्द होने से ।

सूत्रार्थ—शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय होता है, इसलिए सिद्ध है, शब्द होने से।

संस्कृतार्थ—श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्। अत्रायं हेतुः सिद्ध-साध्योऽकिञ्चित्कर-हेत्वाभासो विद्यते।

टीकार्थ–शब्द कर्णइन्द्रिय का विषय है, ''शब्द होने से''। यहाँ पर यह ''शब्द होने से'' हेतु सिद्ध–साध्य–अकिञ्चित्करहेत्वाभास है।

सरल व्याख्या–शब्द श्रवण [कर्ण] इन्द्रिय का विषय है, यह सबको सिद्ध होने से जानने में आता है फिर भी उस शब्द का श्रावण [कर्ण इन्द्रिय का विषय] सिद्ध करने के लिए 'शब्दत्व' हेतु देना सिद्ध साध्य नाम का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है।

अब इस शब्दत्वहेतु के अकिञ्चित्करता कैसे हैं, उसे कहते हैं–

किञ्चिदकरणात् ॥३७॥

अन्वयार्थ–(किञ्चित्) कुछ भी **(अकरणात्)** नहीं करने से।

सूत्रार्थ–''शब्द श्रावण'' इस सिद्धसाध्य में कुछ भी नहीं करने से शब्दत्वहेतु अकिञ्चित्कर–हेत्वाभास है।

संस्कृतार्थ–अत्रानेनशब्दत्वेन हेतुना किञ्चिदपि नो साध्यते। यतः शब्दस्य श्रावणज्ञानेन ज्ञानं सिद्धमेव विद्यते।

टीकार्थ–यहाँ पर यह शब्दत्वहेतु कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि शब्द का कर्ण इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान के द्वारा शब्द का ज्ञान सिद्ध ही है।

विशेषार्थ–शब्द का कान से सुना जाना तो पहले से सिद्ध ही है, फिर भी उसे सिद्ध करने के लिए जो शब्दत्वहेतु दिया गया है, वह व्यर्थ है क्योंकि उससे साध्य की कुछ भी सिद्धि नहीं होती है। अतः अकिञ्चित्कर–हेत्वाभास है।

सरल व्याख्या–जब साध्य स्वयं सिद्ध है तो कुछ भी हेतु देकर अनुमान लगाना हेतु की अकिञ्चित्कर वृत्ति को सिद्ध करता है।

अब शब्दत्वहेतु के अकिञ्चित्करत्व की पुष्टि करते हैं–

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ॥३८॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(अग्निः)** आग **(अनुष्णः)** ठंडी है **(द्रव्यत्वात्)** द्रव्य होने से **(इत्यादौ)** इत्यादि अनुमानों में **(किञ्चित्)**

कुछ भी **(कर्तुम्)** करने के लिए **(अशक्यत्वात्)** शक्य न होने से द्रव्यत्वादिहेतु अकिञ्चितकर हेतु है।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार अग्नि ठण्डी होती है क्योंकि वह द्रव्य है इत्यादि अनुमानों में कुछ भी नहीं कर सकने से द्रव्यत्वादि हेतु अकिञ्चित्कर कहे जाते हैं।

संस्कृतार्थ—यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वात् इत्यादिष्वनुमानेषु किञ्चित् कर्तुमशक्यत्वात् द्रव्यत्वादयो हेतवोऽकिञ्चित्कराः प्रोच्यन्ते तथोपर्युक्तदृष्टान्ते शब्दत्वहेतुरप्यकिञ्चित्करो विज्ञेयः।

टीकार्थ—जैसे अग्नि ठण्डी होती है द्रव्य होने से इत्यादिक अनुमानों में कुछ भी न कर सकने से द्रव्यत्वादिहेतु अकिञ्चित्कर कहे जाते हैं, उसी प्रकार ऊपर के दृष्टान्त में 'शब्दत्वहेतु' भी अकिञ्चित्कर जानना चाहिए।

विशेषार्थ—अग्नि उष्ण नहीं है, यह बात प्रत्यक्षप्रमाण से ही बाधित है फिर भी उस प्रत्यक्षबाधित साध्य को सिद्ध करने के लिए जो द्रव्यत्वहेतु दिया गया है, वह अग्नि को उष्णता रहित सिद्ध नहीं कर सकता है अतः उसे अकिञ्चित्करहेत्वाभास कहा गया है इसी प्रकार अनुमानादि प्रमाणबाधित साध्यों के सिद्ध करने के लिए दिये गये सभी हेतु अकिञ्चित्कर जानना चाहिए।

सरल व्याख्या—अग्नि गर्म नहीं है, द्रव्य होने से। यहाँ द्रव्यत्व हेतु प्रत्यक्ष बाधित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। क्योंकि यह द्रव्यत्व हेतु "अग्नि गर्म नहीं है", इस साध्य की सिद्धि में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है।

अग्नि गर्म नहीं है—यह पक्ष [साध्य] प्रत्यक्ष बाधित है।

सभी जानते हैं कि अग्नि गर्म होती है, ऐसे प्रत्यक्ष बाधित साध्य की सिद्धि में हेतु कुछ नहीं कर सकता है। इसलिए यह प्रत्यक्ष बाधित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है।

यह अकिञ्चित्करदोष हेतु के लक्षण का विचार करने के समय ही है, वादकाल अर्थात् शास्त्रार्थ के समय नहीं, यह प्रकट करते हुए आचार्य सूत्र कहते हैं—

लक्षणे एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ॥३९॥

अन्वयार्थ–(असौ) यह अकिञ्चित्करहेत्वाभासरूप **(दोषः)** दोष हेतु के **(लक्षणे)** लक्षण में–शास्त्र में लक्षण का विचार करने के काल में ही उपयोगी है **(व्युत्पन्नप्रयोगस्य)** व्युत्पन्नप्रयोग के काल में **(पक्षदोषेण)** पक्ष/साध्य में दोष होने से **(एव)** ही **(दुष्टत्वात्)** दूषित हो जाने से अनुपयोगी है।

सूत्रार्थ–लक्षण की अपेक्षा से ही यह दोष है क्योंकि व्युत्पन्नपुरुषों का प्रयोग पक्ष के दोषों से ही पुष्ट हो जाता है।

संस्कृतार्थ–अकिञ्चित्करहेत्वाभासविचारः शास्त्रे एव जायते, न तु वादे। यतो व्युत्पन्नप्रयोगः पक्षदोषणैव दूष्यते, तत्र हेतुदोषस्य प्राधान्यं नो विद्यते।

टीकार्थ–अकिञ्चित्करहेत्वाभास का विचार शास्त्रकाल में ही होता है, परन्तु वादकाल में नहीं, क्योंकि व्युत्पन्नप्रयोग पक्ष के दोष से ही दूषित हो जाता है। वहाँ हेतु के दोष की मुख्यता नहीं है।

विशेषार्थ–शिष्यों को शास्त्र के पठन–पाठनकाल में ही अकिञ्चित्कर–हेत्वाभास को दोष रूप कहा गया है, शास्त्रार्थ करने के समय नहीं क्योंकि शास्त्रार्थ के समय विद्वान् लोगों का ही अधिकार होता है। वह भी विद्वान् लोग पहले तो ऐसा प्रयोग करते ही नहीं। यदि कदाचित् करें तो भी पक्षाभास ही कहा जायेगा। अर्थात् साध्य के सिद्ध होते हुए ऐसे पक्ष का प्रयोग सिद्धपक्षाभास कहलायेगा और बाधितसाध्य के होने पर बाधितपक्षाभास कहलायेगा।

सरल व्याख्या–इस सूत्र का प्रयोजन क्या है? समझें–यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आपने जो यह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास बताया है, उसकी क्या जरूरत थी। जब पहले आपने प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित आदि पक्षाभास कहे थे तो उसी से अनुमान गलत है, यह सिद्ध हो जाता है। पूर्व सूत्र में आपने कहा–''अग्नि उष्ण नहीं है।'' यह प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास में अन्तर्भावित हो जाता है फिर अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में पुनः दूषण देना

अप्रयोजनीय है ? इसी प्रश्न का समाधान इस सूत्र में है।

आचार्य कहते हैं कि अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का प्रयोग लक्षण शास्त्रों में ही दोष बताने के लिए किया जाता है। अर्थात् हेत्वाभास का स्वरूप बताते हुए सभी प्रकार के भेद बताना आवश्यक है इसलिए शास्त्र में इसका प्रयोग होता है। किन्तु वाद-प्रतिवाद के समय व्युत्पन्न (निपुण) पुरुष तो पक्ष दोष से ही इस साध्य में दूषण दे देते हैं।

इस प्रकार हेत्वाभास का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब अन्वयदृष्टान्ताभासों के भेद कहते हैं–

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥४०॥

अन्वयार्थ–(अन्वये) अन्वय में **(असिद्धसाध्यसाधनोभयाः)** असिद्ध-साध्य, असिद्धसाधन और असिद्धसाध्यसाधन **(दृष्टान्ताभासाः)** दृष्टान्ताभास कहलाते हैं।

सूत्रार्थ–अन्वयदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल।

संस्कृतार्थ–साध्यविकलः साधनविकलः उभयविकलश्चेति त्रयोऽन्वय-दृष्टान्ताभासभेदाः विद्यन्ते।

टीकार्थ–साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल इस प्रकार तीन अन्वयदृष्टान्ताभास के भेद हैं।

सरल व्याख्या–जैसे अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त का अध्याय ३ में सूत्र ४४,४५ में वर्णन किया है उन्हीं लक्षणों के विपरीत यहाँ दृष्टान्ताभास को कहा है।

अन्वय दृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–

१. असिद्ध साध्य दृष्टान्ताभास–जिस दृष्टान्त में साध्य असिद्ध हो वह असिद्ध साध्य दृष्टान्ताभास है।

२. असिद्ध साधन दृष्टान्ताभास–जिस दृष्टान्त में साधन असिद्ध हो वह असिद्ध साधन दृष्टान्ताभास है।

३. असिद्ध उभय दृष्टान्ताभास—जिस दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों ही असिद्ध हो वह असिद्ध उभय दृष्टान्ताभास है।

अब आचार्य इन तीनों ही अन्वयदृष्टान्ताभासों को एक ही अनुमान में दिखलाते हैं–

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ॥४१॥

अन्वयार्थ—(शब्दः) शब्द **(अपौरुषेयः)** अपौरुषेय होता है **(अमूर्त्तत्वात्)** अमूर्त होने से **(इन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्)** इन्द्रियसुख, परमाणु और घट के समान।

सूत्रार्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है जैसे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट।

संस्कृतार्थ—असिद्धसाध्यस्यान्वयदृष्टान्ताभासस्योदाहरणम्– शब्दोऽ-पौरुषेयः अमूर्त्तत्वात् इन्द्रियजन्यसुखवत्। अत्रेन्द्रियसुखस्य पौरुषेयत्वाद् असिद्धसाध्यत्वम्। अथ च पूर्वोक्तानुमाने परमाणुः असिद्धसाधनान्वय-दृष्टान्ताभासो भवति। परमाणोः अमूर्त्तत्वाभावादसिद्धसाधनत्वम्। किञ्च– पूर्वोक्तानुमाने घटोऽसिद्धोभयान्वयदृष्टान्ताभासो जायते। घटस्य अपौरुषेयत्वा-भावात् अमूर्तिकत्वाभावाच्चासिद्धोभयत्वम्।

टीकार्थ—शब्द अपौरुषेय होता है, अर्थात् पुरुष का किया नहीं होता, क्योंकि वह अमूर्त्त होता है, जैसे कि इन्द्रियसुख। यहाँ इन्द्रियसुख पौरुषेय दृष्टान्त है और अपौरुषेयपना साध्य है इन्द्रियसुखरूप दृष्टान्त अपौरुषेयपनेरूप साध्य से रहित है, क्योंकि इन्द्रियसुख पुरुषकृत ही होता है, यह साध्यविकल/असिद्धसाध्यान्वयदृष्टान्ताभास का उदाहरण है। दूसरे का दृष्टान्त परमाणु है। यहाँ साधन अमूर्तिकपना है, किन्तु परमाणु मूर्तिक है। परमाणुरूप दृष्टान्त में अमूर्तिकपनारूप साधन असिद्ध है। इसलिए यह साधनविकल/असिद्धसाधनान्वयदृष्टान्ताभास है। तीसरे का दृष्टान्त घट है। यहाँ घट पौरुषेय भी है और मूर्तिक भी है। वह अपौरुषेयरूप साध्य और अमूर्तिकपना-रूप साधन इन दोनों से रहित है इसलिए उभयविकल/असिद्धसाध्य-साधनान्वय-दृष्टान्ताभास है।

विशेषार्थ–जो दृष्टान्त अन्वयव्याप्ति दिखाकर दिया जाता है उसको अन्वयदृष्टान्त कहते हैं। उस व्याप्ति में दो वस्तुएँ होती हैं, एक साध्य और दूसरा साधन। जिस दृष्टान्त में साध्य न होगा वह साध्य से, जिसमें साधन न होगा वह साधन से और जिसमें दोनों न होंगे वह दोनों से रहित कहा जावेगा।

सरल व्याख्या–इस सूत्र में अनुमान के साथ तीन अन्वय दृष्टान्ताभासों को बताया गया है।

अनुमान प्रयोग–शब्द अपौरुषेय होता है, अमूर्त होने से।

यहाँ तीन दृष्टान्त दिये गये हैं–१. इन्द्रिय सुख, २. परमाणु, ३. घड़ा।

इन्द्रिय सुख का दृष्टान्त असिद्ध साध्य दृष्टान्ताभास है। यदि इस दृष्टान्त को अनुमान प्रयोग बनाएँ तो–इन्द्रिय सुख अपौरुषेय होता है, अमूर्त होने से। यहाँ इन्द्रिय सुख को अपौरुषेय कहने से साध्य सिद्ध नहीं होता है क्योंकि इन्द्रिय सुख पौरुषेय है, हेतु भले ही ठीक बैठ जाये क्योंकि इन्द्रिय सुख अमूर्त है। अतः यह असिद्ध साध्य अन्वय दृष्टान्ताभास हुआ।

परमाणु का दृष्टान्त असिद्ध साधन दृष्टान्ताभास है। अनुमान प्रयोग में–परमाणु अपौरुषेय होता है, अमूर्त्त होने से। यहाँ साध्य ठीक बैठता है कि परमाणु अपौरुषेय है किन्तु अमूर्त्तत्व साधन नहीं बैठता क्योंकि परमाणु मूर्त्त होता है इसलिए यह असिद्ध साधन अन्वय दृष्टान्ताभास हुआ।

घड़े का दृष्टान्त असिद्ध–उभय–दृष्टान्ताभास है। अनुमान प्रयोग में घड़ा अपौरूषेय होता है, अमूर्त्त होने से। यहाँ साध्य और साधन दोनों ही असिद्ध है क्योंकि घड़ा न ही अपौरूषेय होता है और न अमूर्त्त। इसलिए यह असिद्ध साध्य साधन (उभय)–दृष्टान्ताभास हुआ।

अब अन्वयदृष्टान्ताभास का उदाहरणान्तर कहते हैं–

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥४२॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो **(अपौरुषेयं)** अपौरुषेय होता है **(तत्)** वह **(अमूर्त्तम्)** अमूर्त्त होता है यह **(विपरीतान्वयः)** विपरीतान्वयदृष्टान्ताभास

है।

सूत्रार्थ—पूर्वोक्तानुमान में—जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त्त होता है, इस प्रकार की विपरीत अन्वय व्याप्ति के दिखाने को भी अन्वयदृष्टान्ताभास या विपरीतान्वयदृष्टान्ताभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ—यत्र साध्यसाधनयोः वैपरीत्येन अन्वयव्याप्तिः प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्ताभासो निगद्यते। तद्यथा यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् यथा गगनम्। अत्र गगनस्यान्वयदृष्टान्ताभासत्वम्।

टीकार्थ—जहाँ साध्य और साधन में विपरीतता के साथ अन्वय व्याप्ति दिखलाई जाती है, वह अन्वयदृष्टान्ताभास कहलाता है। जैसे—जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त्त होता है जैसे—आकाश। यहाँ आकाश के अन्वय-दृष्टान्ताभासपना है।

विशेषार्थ—साधन के सद्भाव में साध्य के सद्भाव के बतलाने को अन्वयव्याप्ति कहते हैं, किन्तु यहाँ अपौरुषेयरूप साध्य के सद्भाव में अमूर्त्तरूप साधन का सद्भाव बतलाया गया है। अतः इसे विपरीतान्वय नाम का दृष्टान्ताभास कहा गया है।

सरल व्याख्या—यह विपरीत अन्वय नाम का दृष्टान्ताभास है क्योंकि यहाँ पर अन्वयव्याप्ति विपरीत दिखाई गई है। जहाँ साधन दिखाकर साध्य दिखाया जाये तो सही अन्वय व्याप्ति होती है जैसे इस पर्वत में अग्नि है धूम होने से। यहाँ धूम से अग्नि की व्याप्ति बनाई है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है। इसके विपरीत यदि हम यूँ कह बैठे कि जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ धुँआ है जैसे पर्वत तो यह विपरीत-अन्वय व्याप्ति हो जायेगी और पर्वत का दृष्टान्त विपरीत अन्वय नाम का दृष्टान्ताभास होगा।

इस सूत्र में जो व्याप्ति बनाई है वह भी विपरीत व्याप्ति है। जैसे जो - जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त होता है, यह व्याप्ति ठीक नहीं बैठती हैं, यही बात आगे के सूत्र में कही गई है।

सही अन्वय व्याप्ति तो यह होती है कि—जो-जो अमूर्त होता है वह

अपौरुषेय होता है। जैसे आत्मा, धर्म, द्रव्य, अधर्म द्रव्य आदि।

चूँकि यह व्याप्ति सही है इसलिए सूत्र में कही व्याप्ति विपरीत हैं, यह सिद्ध होता है।

इसे दृष्टान्ताभासपना कैसे है, आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ॥४३॥

अन्वयार्थ–(विद्युदादिना) बिजली आदि से **(अतिप्रसङ्गात्)** अतिप्रसङ्ग दोष होने से दृष्टान्ताभासपना है।

सूत्रार्थ–क्योंकि इसमें बिजली आदि से अतिप्रसंग दोष आता है इसलिए बिजली आदि के साथ दृष्टान्ताभासपना है। ''जो अपौरुषेय हो, वह अमूर्त्त हो'', ऐसी विपरीत अन्वयव्याप्ति के मानने पर विद्युत के भी अमूर्त्तता की प्राप्ति होती है अर्थात् बिजली को भी अमूर्त्त मानना चाहिए। पर वह अपौरुषेय होती हुई भी अमूर्त्त नहीं, किन्तु मूर्त्त है। इसलिए विद्युत आदि के अपौरुषेयपना होने पर भी अमूर्त्तपने का अभाव होने से यह अन्वयदृष्टान्ताभास है।

संस्कृतार्थ–विपरीतान्वयव्याप्तिप्रदर्शनेन विद्युदादिनातिप्रसङ्गो भवेत्। अर्थात् विद्युतपौरुषेया विद्यतेऽतोऽमूर्त्ता भवितव्या। परन्तु सा अपौरुषेया सत्यपि मूर्तिका वर्तते, अतोऽत्र विपरीतान्वयव्याप्ति-प्रदर्शनम् अन्वयदृष्टान्ताभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ–विपरीत/उल्टी अन्वयव्याप्ति दिखलाने से बिजली आदि के साथ अतिप्रसंग दोष होता है अर्थात् बिजली अपौरुषेय है, इसलिए अमूर्त्त होना चाहिए। परन्तु वह अपौरुषेय होने पर भी मूर्तिक है, इसलिए यहाँ पर विपरीतान्वयव्याप्ति दिखलाना अन्वयदृष्टान्ताभास जानना चाहिए।

सरल व्याख्या–जो-जो अपौरुषेय होता है, वह अमूर्त होता है, यह व्याप्ति मानने पर बिजली, जंगल, फूल-फल आदि से अति प्रसंग दोष आता है क्योंकि प्रकृति की ये सभी चीजे अपौरुषेय तो हैं पर अमूर्त नहीं हैं।

जिसमें रस, गन्ध, वर्ण, स्पर्श पाया जाये वह मूर्त है।

अब व्यतिरेक उदाहरणाभास को कहते हैं–

व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः, परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ॥४४॥

अन्वयार्थ–(असिद्धतद्व्यतिरेकाः) असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन, असिद्धसाध्यसाधन **(व्यतिरेके)** व्यतिरेक में दृष्टान्ताभास हैं और उनके उदाहरण **(परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत्)** परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश के समान।

सूत्रार्थ–व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–असिद्धसाध्य-व्यतिरेक, असिद्धसाधनव्यतिरेक, असिद्धसाध्यसाधनव्यतिरेक इनके उदाहरण क्रम से परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश हैं।

संस्कृतार्थ–व्यतिरेकदृष्टान्ताभासोऽपि त्रिविधः। असिद्धसाध्यः, असिद्धसाधनः, असिद्धोभयश्चेति। तद्यथा–शब्दः अपौरुषेयः, अमूर्त्तत्वात्, अत्रानुमाने परमाणुः साध्यविकलदृष्टान्तः, तस्यामूर्त्तत्वेऽपि पौरुषेयत्वाभावात्। अथ चात्रैवानुमाने इन्द्रियसुखं साधनविकलदृष्टान्तः, तस्य पौरुषेयत्वेऽपि मूर्त्तत्वाभावात्। किञ्चात्रैवानुमाने आकाशम् उभयविकलदृष्टान्तः, आकाशस्य पौरुषेयत्वाभावान्मूर्त्तत्वाभावाच्च।

टीकार्थ–व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के तीन भेद हैं–असिद्धसाध्य, असिद्ध-साधन, असिद्धोभय। जैसे–शब्द अपौरुषेय है, अमूर्त्त होने से। इस अनुमान में परमाणु साध्यविकलदृष्टान्त है। उसके अमूर्त्त होने पर भी पौरुषेयपने का अभाव होने से और इस अनुमान में ही इन्द्रियसुख साधनविकलदृष्टान्त है, क्योंकि उसके पौरुषेयपना होने पर भी मूर्त्त का अभाव होने से और इस ही अनुमान में आकाश उभयविकलदृष्टान्ताभास है, क्योंकि आकाश के पौरुषेयपने का अभाव है और मूर्त्तपने का भी अभाव है।

विशेषार्थ–जो दृष्टान्त व्यतिरेक-व्याप्ति अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाकर दिया जाता है, उसे व्यतिरेकदृष्टान्त कहते हैं। उस व्यतिरेकव्याप्ति में दो वस्तुएँ होती हैं। एक साध्याभाव और दूसरा साधनाभाव। जिस दृष्टान्त में साध्य का अभाव नहीं होगा वह साध्य से विकल अर्थात् रहित कहा जायेगा, जिस दृष्टान्त में साधन का अभाव नहीं होगा, वह साधन से विकल कहा जायेगा और जिस दृष्टान्त में दोनों नहीं

होंगे वह उभय से विकल अर्थात् रहित कहा जायेगा।

सरल व्याख्या—व्यतिरेक दृष्टान्ताभास के भी अन्वय दृष्टान्ताभास की तरह तीन भेद हैं।

१. असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास।

२. असिद्ध साधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास।

३. असिद्ध साध्य-साधन (उभय) व्यतिरेक दृष्टान्ताभास।

यहाँ अनुमान तो पूर्व सूत्र का ही लेना—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है। इसी को व्यतिरेक व्याप्ति में बनाएँ। चूँकि साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाने से व्यतिरेक व्याप्ति होती है, इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति होगी कि—जो अपौरुषेय नहीं होता है वह अमूर्त भी नहीं होता है।

अब यहाँ क्रम से सूत्रोक्त उदाहरण देकर समझते हैं।

परमाणु का दृष्टान्त यहाँ असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है—

इस परमाणु के दृष्टान्त को अनुमान प्रयोग के साथ लगाने पर वाक्य बनेगा-

जो अपौरुषेय नहीं होता, वह अमूर्त नहीं होता, जैसे परमाणु।

इसका अर्थ हुआ—परमाणु अपौरुषेय नहीं है (साध्य), क्योंकि वह अमूर्त नहीं होता है (साधन)

यहाँ साधन व्यतिरेकता तो घटित हो जाती है कि परमाणु अमूर्त नहीं है किन्तु यहाँ साध्य व्यतिरेकता घटित नहीं होती है कि—''परमाणु अपौरुषेय नहीं है।'' चूँकि परमाणु अपौरुषेय है, किसी के द्वारा बनाया नहीं जा सकता है स्वयं ही अपने परिणमन से 'भेदादणुः' इस सूत्र से वह भेद के कारण अणु बनता है। इसलिए परमाणु का दृष्टान्त असिद्ध साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।

इन्द्रिय सुख का दृष्टान्त यहाँ असिद्ध साधन व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है—

इस इन्द्रिय सुख के दृष्टान्त को अनुमान प्रयोग के साथ लगाने पर वाक्य बनेगा—

जो अपौरुषेय नहीं होता, वह अमूर्त नहीं होता जैसे इन्द्रिय सुख।

इसका अर्थ हुआ–इन्द्रिय सुख अपौरुषेय नहीं है (साध्य) क्योंकि वह अमूर्त नहीं है(साधन)।

यहाँ साध्य व्यतिरेकता तो घटित हो जाती है कि ''इन्द्रिय सुख अपौरुषेय नहीं है।'' यह बात सच है। अर्थात् इन्द्रिय सुख पौरूषेय है क्योंकि पुरुष के प्रयासों से ही इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यहाँ साधन व्यतिरेकता घटित नहीं होती है कि–''इन्द्रिय सुख अमूर्त नहीं है।'' यहाँ डबल निगेटिव होने से पोजीटिव अर्थ होगा कि–'मूर्त है।' अर्थात् इन्द्रिय सुख मूर्त है, यह साधन असिद्ध है। क्योंकि सुख कभी भी मूर्त नहीं होता है। सुख देने वाले पदार्थ मूर्त होते हैं लेकिन सुख नहीं क्योंकि सुख दिखाई नहीं देता है। रसगुल्ला तो दिखाई देता हे, जीभ दिखाई देती है लेकिन रसगुल्ला से मिलने वाला सुख दिखाई नहीं देता है क्योंकि वह अमूर्त होता है।

इसलिए इन्द्रिय सुख का यह दृष्टान्त असिद्ध साधन-व्यतिरेक-दृष्टान्ताभास है।

आकाश का दृष्टान्त यहाँ असिद्ध उभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है।

इस आकाश के दृष्टान्त को अनुमान प्रयोग के साथ लगाने पर वाक्य बनेगा–

जो अपौरुषेय नहीं होता, वह अमूर्त नहीं होता जैसे आकाश। इसका अर्थ हुआ–आकाश अपौरुषेय नहीं है (साध्य), क्योंकि वह अमूर्त नहीं है (साधन)।

यहाँ साध्य व्यतिरेकता घटित नहीं होती क्योंकि आकाश अपौरुषेय नहीं है, चूँकि आकाश अपौरुषेय होता है इसलिए यह असिद्ध साध्य व्यतिरेक हुआ।

यहाँ साधन व्यतिरेकता भी घटित नहीं होती है क्योंकि आकाश अमूर्त नहीं है। चूँकि आकाश अमूर्त है इसलिए साधन भी असिद्ध हुआ।

साध्य और साधन दोनों ही इस दृष्टान्त में असिद्ध हैं इसलिए यह

असिद्ध साध्य साधन (उभय) के व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का उदाहरण है।

साध्य के अभाव में साधन की व्यावृत्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं उससे विपरीत व्याप्ति भी जहाँ बतलाई जावे वह भी व्यतिरेकदृष्टान्ताभास है, यह बात आचार्य बतलाते हैं–

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ॥४५॥

अन्वयार्थ–(च) और **(यत्)** जो **(अमूर्त्तं)** अमूर्त्त **(न)** नहीं है **(तत्)** वह **(अपौरुषेयम्)** अपौरुषेय **(न)** नहीं है यह **(विपरीतव्यतिरेकः)** विपरीत-व्यतिरेकदृष्टान्ताभास है।

सूत्रार्थ–जो अमूर्त्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है, इस प्रकार विपरीत व्यतिरेक-व्याप्ति को दिखाना भी विपरीत-व्यतिरेकदृष्टान्ताभास का उदाहरण है।

संस्कृतार्थ–यत्र साधनाभावमुखेन साध्याभावः प्रदर्श्यते सोऽपि व्यतिरेकदृष्टान्ताभासो भवति। तद्यथा यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयं तथा घटः, इत्यत्र घटः व्यतिरेकदृष्टान्ताभासः विद्युदादेः मूर्त्तत्वेऽपि पौरुषेयत्वाभावात्।

टीकार्थ–जहाँ पर साधन के अभावमुख से, साध्य का अभाव दिखाया जाता है, वह व्यतिरेकदृष्टान्ताभास होता है। जैसे–जो अमूर्त्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है। जैसे–घट, इस प्रकार यहाँ घट व्यतिरेकदृष्टान्ताभास है। विद्युतादि के मूर्त्तपना होने पर भी पौरुषेयपने का अभाव होने से व्यतिरेक-दृष्टान्ताभास है।

विशेषार्थ–व्यतिरेक व्याप्ति में सर्वत्र साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जाता है, यहाँ पर वह विपरीत दिखायी गयी है अर्थात् साधन के अभाव में साध्य का अभाव बतलाया गया है, अतः इसे विपरीत-व्यतिरेक-दृष्टान्ताभास कहा गया है, क्योंकि इस प्रकार की व्याप्ति में भी विद्युत आदि से अतिप्रसंगदोष आता है।

सरल व्याख्या–जहाँ साध्य का अभाव दिखाकर साधन का अभाव दिखाया जाये सो व्यतिरेक व्याप्ति सही होती है। जैसे अग्नि का अभाव दिखाकर धुँए का अभाव बताना। जैसे जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धुँआ नहीं

है।

यदि व्यतिरेक व्याप्ति उलटी दिखाई जाये तो वह विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति हो जाती है। जैसे जहाँ धुँआ नहीं है वहाँ अग्नि भी नहीं है। यह दोष पूर्ण व्याप्ति है।

इस सूत्र में ऐसी ही विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई गई है जैसे जो अमूर्त नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है। यह नियम तो गलत साबित होगा क्योंकि बिजली आदि अमूर्त नहीं है अर्थात् मूर्त हैं तो भी वे अपौरुषेय नहीं है, मतलब कि पौरूषेय हैं। चूँकि वह बिजली आदि पौरुषेय भी हैं, और कुछ अपौरुषेय भी हैं इसलिए नियम नहीं बना कि जो अमूर्ति नहीं है, वह अपौरुषेय नहीं है। अतः यह विपरीत व्यतिरेक नाम का दृष्टान्ताभास है।

इस तरह दृष्टान्ताभास का स्वरूप सूत्र ४०-४५ तक छह सूत्रों में पूर्ण हुआ।

अब बालव्युत्पत्ति के लिए उदाहरण, उपनय, निगमन पहले स्वीकार किए गए हैं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अब बालजनों के प्रति कुछ अवयवों के कम प्रयोग करने पर वे प्रयोगाभास कहलाते हैं, यह बात आचार्य कहते हैं–

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ॥४६॥

अन्वयार्थ–(पञ्चावयवेषु) पाँच अवयवों में–अनुमान के पाँच अंगों के प्रयोग में, **(कियद्धीनता)** कितने कम अवयवों का प्रयोग **(बाल-प्रयोगाभासः)** बाल प्रयोगाभास है।

सूत्रार्थ–अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन इन पाँच अवयवों में से कितने ही कम अवयवों का प्रयोग करना बाल प्रयोगाभास है।

संस्कृतार्थ–पञ्चभ्यो हीनैरनुमानावयवैः बालकानां यथार्थज्ञानं नो जायते, अतएव तान्प्रति पञ्चैवावयवाः प्रयोक्तव्या भवेयुः। अतो हीनावयव-प्रयोगो बालप्रयोगाभासो भवेत्।

टीकार्थ–पञ्च अनुमान अंगों में से कितने ही कम अवयवों के द्वारा बालकों को वास्तविक ज्ञान नहीं होता। इसलिए उनके ही प्रति पाँच ही

अवयव कहना चाहिए। इसलिए कम अवयवों का प्रयोग बालप्रयोगाभास है।

सरल व्याख्या—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये पाँच अवयव बाल बुद्धि के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिन्हें पाँच अवयवों के बिना ज्ञान नहीं हो सकता उनके लिए केवल प्रतिज्ञा और हेतु का कथन कर देना बाल प्रयोगाभास है। अल्पबुद्धि वाले लोगों के लिए पाँच में से एक या अनेक अवयवों की कमी होना बालप्रयोगाभास है।

अब आचार्य बालप्रयोगाभास का उदाहरण कहते हैं–

अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वाद्यदित्थं तदित्थं यथा महानसः इति ॥४७॥

अन्वयार्थ–**(अयं)** यह **(प्रदेशः)** प्रदेश **(अग्निमान्)** अग्निवाला है **(धूमवत्वात्)** धूमवाला होने से **(यत्)** जो **(इत्थं)** इस प्रकार धूम वाला होता है **(तत्)** वह **(इत्थं)** इस प्रकार अग्निवाला होता है **(यथा)** जैसे **(महानसः)** रसोई घर।

सूत्रार्थ–यह प्रदेश अग्निवाला है, धूमवाला होने से। जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला होता है, जैसे रसोईघर।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ–यहाँ पर अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन ही अवयवों का प्रयोग किया गया है, अतः इसे बालप्रयोगाभास कहा है।

सरल व्याख्या–इस सूत्रोक्त अनुमान प्रयोग में बात अधूरी भी लगती है क्योंकि उपनय और निगमन का प्रयोग नहीं किया गया है, जिससे वाक्य पूर्ण नहीं हो पाया। अतः यह बालप्रयोगाभास है। या तो व्युत्पन्न प्रयोग किया जाये जिसमें पक्ष, हेतु कहना ही पर्याप्त है। जैसे कोई कहे कि– ''यह स्थान अग्नि वाला है, धूमवान् होने से'' तो इतना कथन पर्याप्त होता है। यदि बात आगे बढ़ाई है तो फिर उसे पूरी करनी चाहिए अन्यथा वह बाल प्रयोगाभास हो जाता है।

अब चार अवयवों के प्रयोग करने पर तदाभासता कहते हैं–

धूमवांश्चायम् ॥४८॥

अन्वयार्थ–(च) और **(अयम्)** यह **(धूमवान्)** धूमवाला है।

सूत्रार्थ–और यह भी धूमवाला है (उपनय)। इस प्रकार ऊपर कहे गये तीन अवयवों के साथ उपनय का प्रयोग करना और निगमन का प्रयोग नहीं करना भी बालप्रयोगाभास है।

संस्कृतार्थ–अग्निमानयं प्रदेशो, धूमवत्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानसः धूमवांश्चायम्। अत्रानुमानप्रयोगे प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयानां चतुर्णामवयवानामेव प्रयोगो विहितो, निगमनं तु परित्यक्तम्। अतोऽयम्प्रयोगो बालप्रयोगाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ–यह प्रदेश अग्निवाला है, धूमवाला होने से, जो धूमवाला होता है, वह अग्निवाला होता है, जैसे–रसोईघर, यह धूमवाला है। यहाँ अनुमान प्रयोग में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, इन चार अवयवों का ही प्रयोग किया गया है परन्तु निगमन को छोड़ दिया गया है। इसलिए यह प्रयोग बाल-प्रयोगाभास जानना चाहिए।

सरल व्याख्या–सूत्र ४७ में पक्ष, हेतु, दृष्टान्त तक का वर्णन किया इसलिए वह बाल प्रयोगाभास था।

इस सूत्र में बात थोड़ी सी आगे और बढ़ाकर उपनय का भी प्रयोग कर दिया है कि–''इसी प्रकार यह स्थान भी धूमवाला है।'' किन्तु साध्य की सिद्धि करने के लिए यदि इसके आगे निगमन का प्रयोग नहीं किया जाये तो भी बात अधूरी ही रही, इसलिए चार अवयवों का प्रयोग भी बालप्रयोगाभास है।

अब अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर भी प्रयोगाभासपना होता है, यह कहते हैं–

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम् ॥४९॥

अन्वयार्थ–(तस्मात्) इसलिए **(अयम्)** यह **(अग्निमान्)** अग्निवाला है **(च)** और **(धूमवान्)** धूमवाला है।

सूत्रार्थ—इसलिए यह अग्निवाला है और यह भी धूमवाला है।

संस्कृतार्थ—दृष्टान्तानन्तरम् उपनयः, प्रयोक्तव्यः, यत्तथा चायं धूमवान्। ततश्च निगमनं प्रयोक्तव्यम्, यत्तस्मादग्निमान्। किन्त्वत्र सूत्रे उपनयनिगमने वैपरीत्येन प्रयुक्ते, अतोऽयम्प्रयोगो बालप्रयोगाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ—दृष्टान्त के बाद उपनय का प्रयोग करना चाहिए कि ''उसी तरह यह भी धूमवाला है'' उसके पश्चात् निगमन का प्रयोग करना चाहिए, ''इसलिए यह अग्निवाला है'' परन्तु इस सूत्र में उपनय और निगमन विपरीतरूप से प्रयोग किये गए हैं अर्थात् यहाँ पर पहले निगमन का प्रयोग किया गया है और पीछे उपनय का इसलिए यह प्रयोग बालप्रयोगाभास जानना चाहिए।

सरल व्याख्या—अनुमान के जो पाँच अवयव बताये हैं उनका उसी क्रम से प्रयोग करना सही प्रयोग है। इसके विपरीत प्रयोग करना भी बालप्रयोगाभास है।

इस सूत्र में निगमन का प्रयोग पहले दिखाकर फिर उपनय का प्रयोग किया है। इसलिए यह विपरीत क्रम बालप्रयोगाभास है।

''इसलिए यह अग्निवाला है।'' यह निगमन है, इसमें प्रतिज्ञा का उपसंहार है। यह सबसे अन्त में किया जाता है। सूत्र में इसका प्रयोग पहले कर दिया है, यही विपरीतता है।

''यह भी धूमवान् है।'' यह उपनय प्रयोग है। चूँकि दृष्टान्त के प्रयोग के बाद उपनय का प्रयोग होना चाहिए किन्तु इस सूत्र में निगमन के बाद किया है इसलिए यह बाल प्रयोगाभास है।

पूर्वसूत्र ४७ से पक्ष, हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग करके, उसके आगे इस सूत्र को रखने पर पूरा विपरीत बालप्रयोगाभास होगा।

यह स्थान अग्निवाला है, धूमवाला होने से, जो धूम वाला है वह अग्निवाला होता है जैसे रसोई घर (सूत्र ४७) + इसलिए यह अग्निवाला है और धुँए वाला भी है (सूत्र ४८)।

अब अवयवों के विपरीत प्रयोग करने पर प्रयोगाभास कैसे कहा? ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ॥५०॥

अन्वयार्थ–(स्पष्टतया) स्पष्ट रूप से **(प्रकृतप्रतिपत्तेः)** प्रकृत पदार्थ के ठीक-ठीक ज्ञान कराने में **(अयोगात्)** अयोग्य होने से यह प्रयोगाभास ही है।

सूत्रार्थ–स्पष्टरीति से प्रकृत पदार्थ के ठीक-ठीक ज्ञान कराने में अर्थात् अनुमान के अंगों का विपरीत क्रम से प्रयोग योग्य न होने से अर्थात् ठीक नहीं होने से यह प्रयोगाभास ही है।

संस्कृतार्थ–अनुमानावयवानां क्रमहीनप्रयोगे प्रकृतार्थस्य स्पष्टतया ज्ञानं नो जायते। अतः सः प्रयोगाभासः प्रोच्यते।

टीकार्थ–अनुमान के अवयवों का क्रम के उल्लंघन कर प्रयोग करने से प्रकृत पदार्थ का स्पष्टरूप से ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। इसलिए वह प्रयोगाभास या बालप्रयोगाभास है।

विशेषार्थ–पाँच अवयवों में से हीन प्रयोग या विपरीत प्रयोग करने पर शिष्यादिक को प्रकृत वस्तु का यथार्थ बोध नहीं हो पाता, इसलिए उन्हें बालप्रयोगाभास कहते हैं।

सरल व्याख्या–पाँच अवयवों से हीन प्रयोग करने पर या विपरीत क्रम से अवयवों का प्रयोग करने पर बालप्रयोगाभास होता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के प्रयोग से प्रासंगिक विषय का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है। बाल बुद्धि वालों को भी भ्रम उत्पन्न होता है इसलिए इसे बाल प्रयोगाभास कहते हैं।

इस तरह बाल प्रयोगाभास का वर्णन सूत्र ४६ से ५० तक इन पाँच सूत्रों में पूर्ण हुआ।

इस तरह सूत्र ११ से जो अनुमानभास का वर्णन करना प्रारम्भ किया था वह सूत्र ५० पर पूर्ण हुआ।

अब आचार्य भगवन् आगमाभास का स्वरूप कहते हैं–

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ॥५१॥

अन्वयार्थ–(रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनात्) रागद्वेष मोह से व्याप्त पुरुष के वचन से **(जातम्)** उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान **(आगमाभासम्)** आगमाभास है।

सूत्रार्थ–रागद्वेषमोह से आक्रान्त (व्याप्त) पुरुष के वचनों से उत्पन्न हुए पदार्थ के ज्ञान को आगमाभास कहते हैं।

संस्कृतार्थ–रागिणो, द्वेषिणोऽज्ञानिनो वा मानवस्य वचनेभ्यः समुत्पन्नः आगमः आगमाभासो विज्ञेयः।

टीकार्थ–रागियों के, द्वेषियों के और अज्ञानियों के वचनों के द्वारा उत्पन्न आगम को आगमाभास जानना चाहिए।

सरल व्याख्या–राग, द्वेष, मोह से रहित पुरुष आप्त होता है। आप्त ही वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं इसलिए उनके वचन आगम प्रमाण होते हैं।

इसके विपरीत जिस पुरुष के वचन राग-द्वेष-मोह से आक्रान्त हैं वह आप्ताभास है। उसके पास वीतरागता और सर्वज्ञता नहीं हो सकती है, इसलिए उसके वचन भी आगमाभास होते हैं।

अब आगमाभास का उदाहरण कहते हैं–

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ॥५२॥

अन्वयार्थ–(यथा) जैसे **(माणवकाः)** हे बालको! **(धावध्वं)** दौड़ो **(नद्याः)** नदी के **(तीरे)** किनारे पर **(मोदकराशयः)** लड्डुओं के ढेर **(सन्ति)** हैं।

सूत्रार्थ–जैसे कि–हे बालको! दौड़ो, नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं।

संस्कृतार्थ–नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः इति वचनमागमाभासो विद्यते रागेणोक्तत्वात्।

टीकार्थ–नदी के किनारे लड्डुओं के ढेर लगे हैं, हे बालको! दौड़ो। इस

प्रकार का वचन आगमाभास है, राग से कहा जाने के कारण।

विशेषार्थ—कोई व्यक्ति बालकों से परेशान व्याकुलचित्त था उसने उन बालकों का साथ छुड़ाने की इच्छा से छलपूर्ण वाक्य कहकर उन्हें नदी के तट प्रदेश पर भेजा। वस्तुतः नदी के किनारे पर मोदक नहीं थे, इसलिए यह कथन आप्त अर्थात् प्रामाणिक पुरुष के कथन से विपरीत है, अतः आगमाभास है।

सरल व्याख्या—पिछले सूत्र में आगमाभास के कारणभूत पुरुष में तीन कारण बताए है—राग, द्वेष, मोह।

इस सूत्र में राग, द्वेष से आक्रान्त पुरुष के वचनों को आगमाभास सिद्ध किया है।

राग से आक्रान्तवचन—राग के वशीभूत हुआ कोई प्राणी बच्चों के साथ खेलने की इच्छा से, अपना मन बहलाने के लिए और अपने मन को आनन्दित करने के लिए जब कहता है कि—''बालको! दौड़ो, उस नदी के किनारे पर लड्डू रखे हैं।'' तो यह रागाक्रान्त वचन आगमाभास कहलाते हैं।

द्वेष से आक्रान्तवचन—द्वेष के वशीभूत हुआ कोई आदमी जब उन्हीं बच्चों की क्रीड़ा से परेशान होता है और वह उनसे पीछा छुड़ाने के लिए, बलाय टालने के लिए कहता है कि—''बालको! दौड़ो, उस नदी के किनारे पर लड्डू रखे हैं।'' तो यह द्वेषाक्रान्त पुरुष के वचन भी आगमाभास कहलाए।

उपयुर्क्त एक मात्र प्रथम उदाहरण से संतुष्ट नहीं होते हुए आचार्य आगमाभास का दूसरा उदाहरण देते हैं—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ॥५३॥

अन्वयार्थ—(च) और दूसरा उदाहरण **(इति)** इस प्रकार है **(अङ्गुल्यग्रे)** अंगुली के अग्रभाग पर **(हस्तियूथशतम्)** हाथियों के समुदायरूप सैकड़ों—हाथियों के सैकड़ों समूह **(आस्ते)** रहते हैं।

सूत्रार्थ—अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समुदाय विद्यमान हैं, यह कहना भी आगमाभास है।

संस्कृतार्थ—अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति वचनमागमाभासो विद्यते प्रत्यक्षेण बाधितत्वाद् असम्भवत्वाद्वा।

टीकार्थ—अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समूह रहते हैं, इस प्रकार का वचन आगमाभास है, प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण अथवा असंभव होने के कारण।

विशेषार्थ—इस उदाहरण में सांख्य अपने मिथ्या आगमजनित वासना से आक्रान्त चित्त होकर प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध सभी वस्तुएँ सर्वथा विद्यमान हैं, ऐसा प्रमाण मानते हुए उक्त प्रकार से उपदेश देते हैं, किन्तु उनका वह भी कथन अनाप्तपुरुष के वचनरूप होने से आगमाभास ही है।

सरल व्याख्या—मोह से आक्रान्त पुरुष के वचन भी आगमाभास हैं। यह इस सूत्र में उदाहरण देकर बताया है।

मोह यानी मिथ्यात्व। मिथ्यात्व से दूषित सांख्यों के सिद्धान्त को यहाँ उदाहरण देकर प्रस्तुत किया है। सांख्य लोग मानते हैं कि–सब कुछ सब जगह, सभी समय पर रहता है। बस, कभी कुछ प्रकट हो जाता है तो दिखने लग जाता है अन्यथा वह तिरोहित रहता है। आविर्भाव–तिरोभाव के इस सिद्धान्त के अनुसार तो यदि सांख्य कहें कि–''अंगुली के अग्र भाग पर सैकड़ों हाथियों का झुण्ड है।'' तो यह कथन भी आगमाभास है।

अब इन ऊपर कहे गए दोनों वाक्यों के आगमाभासपना कैसे है, ऐसी आशंका होने पर आचार्य उत्तर देते हैं–

विसंवादात् ॥५४॥

अन्वयार्थ–(विसंवादात्) विसंवाद होने के कारण आगमाभास है।

सूत्रार्थ—विसंवाद होने के कारण आगमाभासपना है।

संस्कृतार्थ—आगमः प्रमाणाङ्गं विद्यते। प्रमाणेन चाविसम्वादिना भाव्यम्। अतो विसम्वादग्रस्तत्वात्पूर्वोक्तवचनमागमाभासो विद्यते।

टीकार्थ—आगम प्रमाण का अंग है और प्रमाण अविसंवादि होना चाहिए, इसलिए विवादग्रस्त होने से पूर्वोक्त वचन आगमाभास है।

विशेषार्थ—जिन पुरुषों के वचनों में विसंवाद, विवाद, पूर्वापरविरोध या विपरीत अर्थप्रतिपादकपना पाया जाता है, वे आगम स्वरूप नहीं हैं।

सरल व्याख्या—सूत्र ५२-५३ में जो राग-द्वेष-मोह से आक्रान्त पुरुष का उदाहरण दिया गया है वह आगमाभास का उदाहरण है। वह आगमाभास क्यों है ? इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है—विसंवाद होने से।

विसंवाद का अर्थ है झूठ होना। जब झूठ होता है तो झगड़ा होता है। इसलिए विसंवाद यानी विवाद।

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप से विचलित होना भी विसंवाद है।

राग, द्वेष से आक्रान्त पुरुष जब उन बालकों को नदी के किनारे भेजेगा और वहाँ जाकर जब उन बच्चों को लड्डू नहीं मिले तो उस व्यक्ति की बात झूठी हुई जिससे विसंवाद होगा।

इसी तरह मोहाक्रान्त पुरुष की इस बात पर कौन प्रत्यक्ष से विश्वास करेगा कि—"अंगुली के आगे के भाग पर सैकड़ों हाथियों का झुण्ड है।" फिर भी सांख्य मत वाला कहे कि—तुम समझते नहीं हो, सभी वस्तुएँ सब जगह रहती है तो इन वचनों को सुनकर भी विसंवाद ही बढ़ेगा।

इन वचनों से या सिद्धान्तों से कोई आत्महित भी नहीं है इसलिए यह आगमाभास है।

इस प्रमाण आगमाभास का वर्णन सूत्र ५१,५२,५३,५४ इन चार सूत्रों में पूर्ण हुआ।

इस तरह यहाँ तक प्रमाण भेदाभास का वर्णन सूत्र ६ से प्रारम्भ होकर पूर्ण हुआ।

अब प्रमाण के संख्याभास का स्वरूप कहते हैं—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष **(एव)** ही **(एकं)** एक **(प्रमाणम्)** प्रमाण है **(इत्यादि)** इस प्रकार कहना **(संख्याभासम्)** संख्याभास है।

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, इस प्रकार कहना संख्याभास है।

संस्कृतार्थ– प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्।

टीकार्थ–प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है इस प्रकार कहना संख्याभास है।

विशेषार्थ–प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है, यह पहले कहा गया है, उससे विपरीत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है अथवा प्रत्यक्ष और अनुमान ये ही दो प्रमाण हैं, अन्य नहीं है, ऐसी अवधारणा करना भी संख्याभास है।

सरल व्याख्या–प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है यह प्रमाण की एक संख्या मानना संख्याभास है।

एक के अलावा यदि कोई दो संख्या भी माने जैसे जैनाचार्यों ने मानी है लेकिन उस संख्या में सभी प्रमाण अन्तर्भूत न हों तो वह भी प्रमाणाभास है।

जैसे बौद्ध लोग दो प्रमाण मानते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान। तो इन दो प्रमाणों में प्रमाण के सभी भेद समाहित नहीं होते हैं इसलिए यह संख्याभास है। जबकि जैनाचार्यों ने दो प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष माने हैं। जिनमें प्रमाण के सभी भेद अन्तर्भूत हो जाते हैं।

अब प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, यह कहना कैसे संख्याभास है, कहते हैं–

लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ॥५६॥

अन्वयार्थ–(लौकायतिकस्य) नास्तिकमति चार्वाक की **(प्रत्यक्षतः)** प्रत्यक्ष से **(परलोकादि-निषेधस्य)** परलोक आदि के निषेध की **(पर-बुद्ध्यादेः)** दूसरे की बुद्धि आदि की **(असिद्धेः)** सिद्धि न होने से (च) और **(अतद्विषयत्वात्)** उस प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय न होने के कारण एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना संख्याभास है, अपितु अनुमानादि प्रमाणों के विषय अवश्य हैं।

सूत्रार्थ–चार्वाक का प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना इसलिए संख्याभास है कि प्रत्यक्ष से परलोक आदि का निषेध और पर की बुद्धि आदि की सिद्धि

नहीं होती है, क्योंकि वे उसके विषय नहीं है।

संस्कृतार्थ—चार्वाकस्य प्रत्यक्षमात्रप्रमाणस्य स्वीकरणमतः संख्याभासो विद्यते, यदनुमानादिप्रमाणं विना प्रत्यक्षमात्रेण परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्च सिद्धिर्नो भवेत्, यतस्तौ प्रत्यक्षविषयौ न स्तः। अथ चायं नियमो यत् यस्य न विषयीकरोति तत्तस्य विधिं निषेधम्वा कर्तुं नो शक्नुयात्।

टीकार्थ—चार्वाक का प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण का स्वीकार करना संख्याभास है जो अनुमानादि प्रमाण बिना प्रत्यक्ष मात्र से परलोकादि का निषेध और पर की बुद्धि आदि की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वे दोनों प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं और ऐसा नियम है कि जो जिसका विषय करने वाला नहीं है, वह उसका विधान और निषेध करने को समर्थ नहीं हो सकता है।

सरल व्याख्या—लौकायतिक—नास्तिक मती चार्वाक मतवालों को कहते हैं।

ये लोग परलोक का निषेध करते हैं अर्थात् स्वर्ग, नरक कुछ नहीं होते हैं और परबुद्धि (पर–आत्मा) आदि का भी निषेध करते हैं। लेकिन एक प्रत्यक्ष प्रमाण से तो इन बातों का निषेध नहीं हो सकता है। किसी वस्तु का निषेध करने के लिए भी कुछ तर्क देना पड़ेगा, कुछ व्याप्ति बनानी पड़ेगी, कुछ अनुमान करना होगा। यदि ऐसा कुछ किया तो प्रमाण प्रत्यक्ष ही है, यह एक संख्या बाधित होगी और बिना अनुमानादि के निषेध भी सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय ही नहीं है कि वह परलोक आदि का निषेध कर सके। इस तरह चार्वाकों की प्रमाण संख्या प्रमाणाभास सिद्ध होती है।

अब चार्वाक के दृष्टान्त द्वारा बौद्धादि के मत में भी संख्याभासपना है यह दिखलाते हैं—

सौगतसाङ्ख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ॥५७॥

अन्वयार्थ—(सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां) बुद्ध, सांख्य, यौग,

प्रभाकर, जैमिनीयों के, (प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः एकैकाधिकैः) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, और अभाव इन एक एक अधिक प्रमाणों के द्वारा (व्याप्तिवत्) व्याप्ति के समान।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार बौद्ध, सांख्य, यौग, प्रभाकर और जैमिनीयों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा व्याप्ति विषय नहीं की जाती है।

संस्कृतार्थ—यथा सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयाङ्गीकृतैरेकैकाधिकैः प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः व्याप्तेरनिर्णयोऽतस्तानि संख्या-भासास्तथा चार्वाकोऽपि प्रत्यक्षमात्रेण परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्च सिद्धिं कर्तुं नो शक्नुयात्। अतस्तत्स्वीकृतम् प्रत्यक्षमेवैकम्प्रमाणं संख्याभासः।

टीकार्थ—जैसे-बौद्ध, सांख्य, यौग, प्रभाकर, जैमिनीय इनके द्वारा स्वीकृत एक-एक अधिक प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव के द्वारा व्याप्ति का निर्णय नहीं होता। इसलिए उनकी संख्या संख्याभास है इसी प्रकार चार्वाक भी प्रत्यक्ष मात्र से ही परलोकादि के निषेध की तथा पर की बुद्धि आदिक की सिद्धि नहीं कर सकता। इसलिए चार्वाक के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण संख्याभास है।

विशेषार्थ—बौद्ध, सांख्य, यौग, प्रभाकर और जैमिनीयों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन एक-एक अधिक प्रमाणों के द्वारा भी व्याप्ति विषय नहीं की जा सकती है। क्योंकि व्याप्ति तर्कप्रमाण का विषय है और इन मत वालों के द्वारा तर्कप्रमाण स्वीकार न किये जाने से पदार्थ का यथार्थ निर्णय नहीं होता है। इसलिए तर्क के अभाव में इन मतों के द्वारा मान्य प्रमाण की सङ्ख्या वास्तव में संख्याभास है।

सरल व्याख्या—सौगत (बौद्ध) की प्रमाण संख्या दो-प्रत्यक्ष, अनुमान।

सांख्य की प्रमाण संख्या तीन-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम।

यौग की प्रमाण संख्या चार-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान।

प्राभाकर की प्रमाण संख्या पाँच-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान,

अर्थापत्ति।

जैमिनीय की प्रमाण संख्या छह–प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।

इन मतों में किसी ने भी किसी भी प्रमाण से व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) नहीं माना है। बताओ! बिना व्याप्ति की सिद्धि के परोक्ष प्रमाण कैसे होगा और उसके बिना अन्य प्रमाणों से क्या प्रयोजन ? इस तरह ये सभी संख्याभास हैं।

अब यहाँ पर चार्वाक का कहना है कि पराई बुद्धि आदिक का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष से नहीं होता न होवे, अन्य अनुमानादिक से हो जायेगा, ऐसी शंका का समाधान देते हैं–

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ॥५८॥

अन्वयार्थ–(अनुमानादेः) अनुमान आदि के **(तद्विषयत्वे)** उस परबुद्धि आदि का विषयपना होने पर **(प्रमाणान्तरत्वम्)** अन्य प्रमाणपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ–अनुमानादि के परबुद्धि आदिक का विषयपना मानने पर अन्य प्रमाणों के मानने का प्रसंग आता है।

संस्कृतार्थ–अनुमानेन परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादिसिद्धेर्वा स्वीकारेऽनुमानं द्वितीयप्रमाणं माननीयं भवेत्। तदा प्रत्यक्षमात्रस्य प्रमाणस्याङ्गी-करणं संख्याभासः सुस्पष्टो भवेत्।

टीकार्थ–अनुमान के द्वारा परलोकादि का निषेध और परबुद्धि आदि के सिद्ध होने से अनुमान को स्वीकार करने पर अनुमान को द्वितीय प्रमाण मानना होगा। तब तो प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण का मानना संख्याभास है यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ–तत् शब्द से परबुद्धि आदि कहे गए हैं। अनुमानादि को पर बुद्धि आदि का विषय करने वाला मानने पर एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, यह वचन घटित नहीं होगा, यह सूत्र का समुच्चयार्थ है।

सरल व्याख्या–परलोक का निषेध और पर बुद्धि का ग्रहण आदि जो

हमें दिखाई नहीं देती है ऐसी वस्तुओं का विषय अनुमान आदि प्रमाण के द्वारा ही होता है। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हैं। यदि वे प्रत्यक्ष के अलावा कुछ और प्रमाण मानेंगे तो प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) मानने का प्रसंग आ जायेगा जिससे उनकी एक संख्या का विघटन हो जायेगा। जिससे संख्याभास होगा।

अब आचार्य इसी विषय में उदाहरण देते हैं–

तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे
प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ॥५९॥

अन्वयार्थ–(तर्कस्य) तर्क के **(एव)** ही **(व्याप्तिगोचरत्वे)** व्याप्ति का विषयपना मानने पर अर्थात् विषय करने वाला मानने पर **(प्रमाणान्तरत्वम्)** एक भिन्नप्रमाणपना प्राप्त होता है **(अप्रमाणस्य)** अप्रमाण ज्ञान पदार्थ की **(अव्यवस्थापकत्वात्)** व्यवस्था नहीं करने के कारण व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती।

सूत्रार्थ–तर्क को व्याप्ति का विषय करने वाला मानने पर बौद्धादि को उसे एक भिन्न प्रमाण मानना पड़ता है, क्योंकि अप्रमाणज्ञान पदार्थ की व्यवस्था नहीं कर सकता है।

संस्कृतार्थ–किञ्चानुमानादेः परबुद्ध्यादिनिश्चायकत्वाभ्युपगमेऽपि चार्वाकाणाम् प्रत्यक्षैक प्रमाणवादो हीयते। यथा सौगतादीनां तर्कप्रमाणेन व्याप्तिनिश्चयाभ्युपगमे स्वाभिमतद्वित्रिचतुरादिसंख्याव्याघातो भवति। किञ्च तर्कस्याप्रमाणत्वाभ्युपगमे व्याप्तिप्रतिपत्तिः खपुष्पवत् भवेत्। अप्रमाणस्य समारोपाव्यवच्छेदेन स्वविषयनिश्चायकत्वाभावात्।

टीकार्थ–कोई और कहता है कि अनुमानादि के पर–बुद्धयादि का निश्चायकपना स्वीकार करने पर भी चार्वाकादि का 'प्रत्यक्ष एक प्रमाणवाद' को त्याग करने का प्रसंग आता है। जैसे–सौगतादि का तर्क प्रमाण के द्वारा व्याप्ति का निश्चय स्वीकार करने पर उनके द्वारा स्वीकृत दो, तीन, चार आदि संख्या का व्याघात होता है। यदि कोई कहे कि तर्क को मानकर भी हम उसे प्रमाण नहीं मानेंगे, अप्रमाण मान लेवेंगे, तब व्याप्ति का ज्ञान

आकाश पुष्प के समान हो जायेगा, क्योंकि अप्रमाण के समारोप आदि का निराकरण न करने के कारण और अपने विषय के निश्चायकपने का अभाव होने के कारण।

विशेषार्थ–बौद्ध यदि व्याप्ति को तर्कप्रमाण विषय करता है ऐसा माने अर्थात् प्रमाण द्वारा व्याप्ति का [साध्य-साधन का अविनाभाव] ग्रहण होता है ऐसा माने तो उस तर्कप्रमाण को प्रत्यक्षादि से पृथक् स्वीकार करना होगा ही और ऐसा मानने पर उन बौद्धों की दो प्रमाण संख्या कहाँ रही ? अर्थात् नहीं रहती। यदि उस तर्क को स्वीकार करके अप्रमाण बताया जाये तो अप्रमाणभूत तर्क द्वारा व्याप्ति की सिद्धि हो नहीं सकती क्योंकि जो अप्रमाण होता है वह वस्तु व्यवस्था नहीं कर सकता ऐसा सर्वमान्य नियम है।

सरल व्याख्या–यह सूत्र चार्वाक मत आदि मतों के लिए उदाहरण स्वरूप भी है और उनके लिए दूषण रूप भी है।

तर्क से व्याप्ति का निर्णय होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि जितने भी प्रमाण बताए हैं, उनमें व्याप्ति किसी प्रमाण में नहीं होती है, मात्र तर्क से ही होती है और तर्क को प्रमाण मानने पर प्रमाणान्तर मानना पड़ेगा। यदि किसी अन्य प्रमाण को मानेंगे तो वह उनके लिए अप्रमाण होगा और अप्रमाण भला कैसे किसी पदार्थ की सिद्धि की व्यवस्था कर सकेगा ?

अब पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करते हुए आचार्य कहते हैं–

प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ॥६०॥

अन्वयार्थ–(च) और **(प्रतिभासभेदस्य)** प्रतिभास के भेद की आवश्यकता प्रमाणों के **(भेदकत्वात्)** भेदक होने से है।

सूत्रार्थ–प्रतिभास के भेद की आवश्यकता होती है क्योंकि प्रतिभास ही प्रमाणों का भेदक होता है।

संस्कृतार्थ–किञ्च वस्तुस्वरूपप्रतिभासभेदः एव प्रमाणभेदान् व्यवस्था-पयति। यथा स्पष्टप्रतिभासः प्रत्यक्षम् अस्पष्टप्रतिभासश्च परोक्षं कथ्यते, तथा व्याप्तिरूपः प्रतिभासः तर्को निगद्यते। एवञ्च तर्कप्रमाणेऽङ्गीकृते चार्वाकादीनामङ्गीकृतप्रमाणसंख्याव्याघातोऽनिवार्यो भवेत्। अतस्तत्स्वीकृत

प्रमाणसङ्ख्यायाः प्रमाणसंख्याभासत्वमनिवार्यं जायेत।

टीकार्थ–कोई और कहता है वस्तु स्वरूप के प्रतिभास का भेद ही प्रमाण के भेदों को व्यवस्थापित करता है। जैसे–स्पष्ट–प्रतिभास प्रत्यक्ष कहलाता है। अस्पष्ट–प्रतिभास परोक्ष कहलाता है, उसी प्रकार व्याप्तिरूप प्रतिभास तर्क कहा जाता है और इस प्रकार तर्क प्रमाण को स्वीकार करने पर चार्वाक आदि के द्वारा स्वीकृत प्रमाणसंख्या का व्याघात अवश्य होता ही है। इसलिए सौगतादि के द्वारा स्वीकृत प्रमाण संख्या का प्रमाण–संख्याभासपना अनिवार्य ही होता है।

विशेषार्थ–जिस जिस प्रतीति या ज्ञान में पृथक्–पृथक् रूप से प्रतिभास/झलक आती है उस–उस ज्ञान को भिन्न–भिन्न प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं अर्थात् प्रतिभास/झलक में भेद होने से–पृथक्–पृथक् प्रतीति आने से ही प्रमाणों में भेद स्थापित किया जाता है। जैसे प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, तर्कप्रमाण, इत्यादि प्रमाणों में भिन्न भिन्न प्रतिभास होने से ही भिन्न भिन्न प्रत्यक्षप्रमाणादि प्रमाणों की प्राप्ति होती है। इन प्रमाणों की सामग्री भी भिन्न है।

सरल व्याख्या–प्रमाणों की यह भेद भिन्नता ज्ञान के प्रतिभास की भिन्नता पर निर्भर करती है। यानि कि प्रत्येक ज्ञान का प्रतिभास (अनुभूति) भिन्न–भिन्न होती है।

अनुमान–ज्ञान का प्रतिभास (अनुभूति या जानना) अन्य प्रमाणों से भिन्न है। उसे प्रत्यक्ष प्रमाण में नहीं समाहित कर सकते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष तो पदार्थों को इन्द्रिय, मन के माध्यम से स्पष्ट जानने का नाम है। इसलिए चार्वाकों को अनुमान की भिन्न प्रतीति स्वीकारनी पड़ेगी। जिसे स्वीकार ने पर उनके यहाँ संख्याभास का प्रसंग होगा।

इसी तरह बौद्धों को तर्क प्रमाण मानना होगा क्योंकि उस तर्क ज्ञान की प्रतीति भिन्न रूप से होती है उसे अनुमान में गर्भित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनुमान का प्रतिभास भिन्न प्रकार का है। इसलिए बौद्ध मत में भी संख्याभास होगा।

इसी तरह अन्य मतों में जानना क्योंकि छह-छह प्रमाण स्वीकारते हुए भी तर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि किसी ने नहीं माने जो कि भिन्न रूप से अनुभव में आते हैं।

जिस तरह पदार्थ में एक धर्म की ही उपलब्धि नहीं होने से उसे अनेकान्त स्वरूप मानना पड़ता है क्योंकि वस्तु वैसी ही प्रतीति में आती है। इसी प्रकार व्याप्ति, स्मरण, प्रत्यभिज्ञानों की भी उपलब्धि होती हैं क्योंकि ये इसी रूप में अनुभव में आते हैं। यह वस्तु का स्वरूप है। इसे सर्वज्ञ वाणी के अलावा कोई भी सही रूप से नहीं बता पाया। इसी से जाना जाता है कि बौद्ध आदि सर्वज्ञ नहीं थे।

इस तरह सूत्र ५५ से ६० तक संख्याभास का वर्णन ६ सूत्रों में पूर्ण हुआ।

अब प्रमाणविषयाभास का स्वरूप कहते हैं—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥

अन्वयार्थ—(सामान्यं) केवल सामान्य **(विशेषः)** केवल विशेष **(वा)** अथवा **(द्वयं)** दोनों को **(स्वतंत्रं)** स्वतंत्र मानकर प्रमाण का विषय मानना **(विषयाभासः)** विषयाभास है।

सूत्रार्थ—केवलसामान्य को, केवल विशेष को अथवा स्वतंत्र दोनों को प्रमाण का विषय मानना विषयाभास है।

संस्कृतार्थ—सामान्यमात्रस्य, विशेषमात्रस्य, स्वतंत्रस्य स्वतंत्रस्य द्वयस्य वा प्रमाणविषयत्वेनाङ्गीकरणं प्रमाणविषयाभासः प्रोच्यते।

टीकार्थ—सामान्यमात्र का, विशेषमात्र का अथवा स्वतन्त्र स्वतन्त्र दोनों को प्रमाण के विषयरूप से स्वीकार करने वाला प्रमाण विषयाभास कहा जाता है।

विशेषार्थ—सांख्य सामान्य मात्र (द्रव्य) को ही प्रमाण का विषय मानता है। बौद्ध विशेष रूप केवल (पर्याय) को ही प्रमाण का विषय कहते हैं। नैयायिक और वैशेषिक सामान्य और विशेष स्वरूप पदार्थ को मानकर

भी, सामान्य तथा विशेष को एक दूसरे की सहायता से रहित दोनों को स्वतन्त्र पदार्थ मानकर उन्हें प्रमाण का विषय मानते हैं इसलिए वे सब विषयाभास हैं, क्योंकि प्रमाण का विषय परस्पर सापेक्ष उभयात्मक है।

सरल व्याख्या—प्रमाण (ज्ञान) जिस पदार्थ को जाने वह पदार्थ उस प्रमाण का विषय कहलाता है। वह पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है।

ऐसा कोई भी सत् पदार्थ नहीं है जो मात्र सामान्य हो, या जो मात्र विशेष हो, या सामान्य, विशेष स्वतन्त्र रूप से हो।

जितने भी अद्वैतवादी हैं, चाहें वे ब्रह्माद्वैतवादी, विज्ञानाद्वैतवादी आदि ही क्यों न हों वे सभी पदार्थों को एक ब्रह्म रूप, एक विज्ञान रूप आदि सामान्य रूप से मानते हैं।

बौद्ध पदार्थों को मात्र विशेष रूप ही मानते हैं, जो कि एक समयवाला भावात्मक पदार्थ है।

यौग सिद्धान्त वाले सामान्य, विशेष दोनों स्वतन्त्र रूप से मानते हैं। कोई पदार्थ नित्य है, कोई अनित्य। जैसे परमाणु। कारण परमाणु नित्य है। कार्य परमाणु अनित्य है। ऐसा अलग-अलग मानते हैं।

जैनाचार्य कहते हैं कि कोई भी सत् पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक दोनों स्वरूप वाला होता है।

प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्मों से सहित नहीं मानना ही विषयाभास है।

अब उन सांख्यादिकों की मान्यताएँ विषयाभास कैसे हैं, आचार्य इस आशंका के निराकरण करने के लिए उत्तरसूत्र कहते हैं–

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥

अन्वयार्थ–(तथा) उसी प्रकार **(अप्रतिभासनात्)** प्रतिभास नहीं होने से **(च)** और **(कार्याकरणाच्च)** कार्य के न कर सकने के कारण विषयाभास है।

सूत्रार्थ—प्रतिभासन नहीं होने से अर्थात् केवल सामान्यरूप से अथवा

केवल विशेषरूप से वस्तु का प्रतिभास नहीं होता उसी प्रकार कार्य न कर सकने से अर्थात् केवल सामान्य या केवल विशेष अपना कार्य नहीं कर सकता इसलिए विषयाभास है।

संस्कृतार्थ—सांख्याभिमतं सामान्यतत्त्वं, सौगताभिमतं विशेषतत्त्वं, यौगाभिमतं परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषरूपतत्त्वञ्च विषयाभासो भवति तथा प्रतिभासनाभावात् अर्थक्रियाकारित्वाभावाच्च।

टीकार्थ—सांख्यों के द्वारा स्वीकृत सामान्यतत्त्व, बौद्धों के द्वारा स्वीकृत विशेषतत्त्व, यौगों के द्वारा स्वीकृत परस्पर निरक्षेप सामान्य और विशेषरूप तत्त्व विषयाभास होता है। उसी प्रकार प्रतिभास का अभाव होने से अर्थक्रियाकारीपने का भी अभाव होता है।

सरल व्याख्या—तथा अप्रतिभासनात्-वैसा प्रतिभास (अनुभव) में नहीं आने से। अर्थात् वस्तु केवल सामान्य रूप, अथवा केवल विशेष रूप अथवा केवल पृथक्-पृथक् सामान्य, विशेष रूप अनुभव में नहीं आती है।

कार्याकरणात्-मात्र सामान्य आदि रूप माना गया पदार्थ कोई भी कार्य नहीं कर सकता है अर्थात् ऐसे पदार्थ में कोई अर्थक्रिया (प्रयोजन) सिद्धि नहीं होती है।

जो पदार्थ केवल सामान्य रूप है, अथवा विशेष रूप है तो वह-

१. क्या स्वयं समर्थ होता हुआ कार्य कर लेगा ?

२. या असमर्थ होता हुआ कार्य कर लेगा ?

इन्हीं दोनों प्रश्नों का उत्तर आगे के सूत्र में क्रम से दिया जाना है।

अब कोई कहे कि वे एकान्तरूप पदार्थ अपना कार्य कर सकते हैं तो आचार्य भगवन् उनसे पूछते हैं कि वह एकान्तात्मक तत्त्व स्वयं समर्थ होते हुए अपना कार्य करेगा। अथवा असमर्थ रहते हुए। प्रथम पक्ष में दूषण देते हैं–

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ॥६३॥

अन्वयार्थ–(समर्थस्य) समर्थ के **(करणे)** कार्य करने पर **(अनपेक्षत्वात्)** किसी की अपेक्षा न होने से **(सर्वदा)** हमेशा **(उत्पत्तिः)**

उत्पत्ति है अर्थात् उत्पत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ—समर्थ पदार्थ के कार्य करने पर किसी अन्य की अपेक्षा न होने से हमेशा कार्य की उत्पत्ति का प्रसंग आता है।

संस्कृतार्थ—किञ्च तदेकान्तात्मकं तत्त्वं स्वयं समर्थमसमर्थं वा कार्यकारि स्यात् ? तत्र समर्थत्वे किं निरपेक्षं कार्यं कुर्यात्सापेक्षम्वा ? न तावत्प्रथमः पक्षः। निरपेक्षस्य समर्थतत्त्वस्य कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्योत्पत्ति-प्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्।

टीकार्थ—यदि कोई और कहे कि वह एकान्तात्मक तत्त्व स्वयं समर्थ अथवा असमर्थ होकर कार्यकारी होता है? उसमें समर्थ होता हुआ क्या कार्य को निरपेक्ष होकर करता है अथवा सापेक्ष होकर ? प्रथम पक्ष तो आपके यहाँ बनता नहीं है, क्योंकि निरपेक्ष समर्थतत्व के कार्य को उत्पन्न करने वाला मानते हो तो हमेशा कार्योत्पत्ति का प्रसंग आता है, जिसका निराकरण करना कठिन है।

सरल व्याख्या—जो पदार्थ स्वयं कार्य करने में समर्थ है तो हमेशा उसका कार्य उत्पन्न होते रहने का प्रसंग आ जायेगा।

यदि वह पदार्थ समर्थ है तो किसी की अपेक्षा भी नहीं रखेगा। पर - निमित्तों की अपेक्षा रखे बना यदि कोई पदार्थ कार्य करता है तो उसके भविष्य में होने वाले सभी परिणमन एक ही समय में एक साथ क्यों न होंगे ? अर्थात् अवश्य होने का प्रसंग आ जायेगा।

अब यदि कहा जाये कि वह पदार्थ सहकारी कारणों के सान्निध्य से अर्थात् मिल जाने से उस कार्य को करता है, इसलिए कार्य की सदा उत्पत्ति नहीं होती है तो आचार्य भगवन् कहते हैं–

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ॥६४॥

अन्वयार्थ–(परापेक्षणे) दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर **(परिणामित्वम्)** परिणामीपना प्राप्त होता है **(तदभावात्)** उसके अभाव होने से **(अन्यथा)** इसके विपरीत अर्थात् अपरिणामीपना प्राप्त होता है अर्थात्

कार्य नहीं हो सकता है।

सूत्रार्थ—दूसरे सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने पर परिणामीपना प्राप्त होता है, अन्यथा कार्य नहीं हो सकता है।

संस्कृतार्थ—नापि द्वितीयः पक्षः। सापेक्षसमर्थतत्त्वस्य कार्यजन-कत्वाभ्युपगमे परिणामित्वप्रसङ्गात्, सामान्यविशेषात्मकत्वसिद्धेः, एकतत्त्वस्य परिणामित्वाभावे कार्यजनकत्वायोगात्।

टीकार्थ—द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, सापेक्ष समर्थ पदार्थ के कार्य करने वाला स्वीकार करने पर परिणामीपने का प्रसंग प्राप्त होता है, सामान्य विशेषात्मकपने की सिद्धि होती है, एक पदार्थ के परिणामीपने के अभाव में कार्य की उत्पत्तिपने का अभाव होता है।

विशेषार्थ—सहकारी कारणों की वियुक्त अवस्था में कार्य नहीं करने वाले और सहकारी कारणों के सन्निधान के समय कार्य करने वाले पदार्थ के पूर्व आकार का परित्याग, उत्तर आकार का उपादान और स्थिति लक्षण परिणाम के संभव होने से परिणामीपना सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो कार्य करने का अभाव रहेगा। जैसे—प्राग्भावदशा में कार्य का अभाव था।

सरल व्याख्या—पर की अपेक्षा रखना अर्थात् दूसरे सहकारी कारणों के मिलने पर ही यदि आप कार्य का होना मानते हैं तो वह पदार्थ परिणामी सिद्ध होगा।

अन्यथा पर की अपेक्षा नहीं रखने पर परिणामीपने का भी अभाव होगा।

यदि पदार्थ स्वयं समर्थ है और पर की अपेक्षा भी रख रहा है तो ये दोनों बातें विरोधी हुईं, ऐसी स्थिति में आपका पदार्थ विषयाभास ही हुआ।

अब आचार्य असमर्थरूप दूसरे पक्ष में दोष कहते हैं—

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ॥६५॥

अन्वयार्थ—(स्वयमसमर्थस्य) स्वयं असमर्थ होने वाले के **(अकार-**

कत्वात्) अकार्यपना प्राप्त होता है **(पूर्ववत्)** पूर्व के समान/प्रथमपक्ष के समान।

सूत्रार्थ—स्वयं असमर्थ पदार्थ कार्य का करने वाला नहीं हो सकता।

संस्कृतार्थ—स्वयमसमर्थेन तत्त्वेन कार्योत्पत्तिस्तु बन्ध्यासुतवत् असंभवैव। तस्मात्सामान्यविशेषात्मकपदार्थ एव प्रमाणगोचरो भवति, शेषश्च विषयाभास इति।

टीकार्थ—स्वयं असमर्थ पदार्थ के कार्य की उत्पत्ति मानी जाये तो वह बन्ध्या के पुत्र के समान असंभव ही है। इसलिए सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। और शेष विषयाभास है।

सरल व्याख्या—जो स्वयं असमर्थ है उसे कोई समर्थ नहीं बना सकता। वह कारक (कार्य, क्रिया करने वाला) नहीं बना सकता है।

पूर्ववत् का अर्थ है कि जैसे पदार्थ सहकारी कारणों से रहित अवस्था में अपरिणामी और असमर्थ था उसी प्रकार अब सहकारी कारणों के मिल जाने पर अपना कार्य करने में अभी भी असमर्थ ही रहेगा। जब पदार्थ को सदा असमर्थ ही मान लिया गया तो फिर वह सहकारी कारणों के मिलने से पहले जैसे कुछ नहीं कर सकता था वैसे ही सहकारी कारणों के मिलने के बाद भी नहीं कर पाएगा। अन्यथा पदार्थ सदाकाल असमर्थ है, यह प्रतिज्ञा भंग होगी।

इस तरह पदार्थ को असमर्थ मानने वाला पक्ष भी दूषित हुआ।

यहाँ विषयाभास का वर्णन सूत्र ६१ से ६५ तक ५ सूत्रों में पूर्ण हुआ।

अब प्रमाणफलाभास का वर्णन करते हैं—

फलाभा(सं)सः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ॥६६॥

अन्वयार्थ—(प्रमाणात्) प्रमाण से प्रमाण के फल को सर्वथा **(अभिन्नं)** अभिन्न **(एव)** ही **(वा)** अथवा **(भिन्नं)** भिन्न ही मानना **(फलाभासः)** फलाभास कहलाता है।

सूत्रार्थ—प्रमाण से उसके फल को सर्वथा अभिन्न तथा भिन्न मानना

फलाभास है।

संस्कृतार्थ—प्रमाणात् सर्वथा अभिन्नमथवा सर्वथा भिन्नं फलम् फलाभासः कथ्यते।

टीकार्थ—प्रमाण से सर्वथा अभिन्न अथवा सर्वथा भिन्न प्रमाण के फल को फलाभास कहा जाता है।

सरल व्याख्या—प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न (भेद) मान लिया जाये या सर्वथा अभिन्न (एकमेक)मान लिया जाये तो वह फलाभास होता है।

अब दोनों पक्षों में फलाभास कैसे है तो प्रथम सर्वथा अभिन्न पक्ष में फलाभास बतलाते हैं–

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ॥६७॥

अन्वयार्थ—**(अभेदे)** अभेद होने पर **(तद्व्यवहारानुपपत्तेः)** उनके भिन्नपने के व्यवहार की उपलब्धि न होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ—अभेद होने पर अर्थात् प्रमाण से फल सर्वथा अभिन्न मानने पर उन प्रमाण और प्रमाण के फल में भिन्नपने का व्यवहार ही नहीं हो सकता है।

संस्कृतार्थ—ननु प्रमाणात्सर्वथा अभिन्नस्य फलस्य कथं फलाभासता इति न शङ्कनीयं, फलस्य सर्वथा अभिन्नत्वाभ्युपगमे इदम् प्रमाणम् इदञ्चास्य प्रमाणस्य फलम् इति व्यवहारस्यानुत्पत्तेः।

टीकार्थ—कोई पूछता है कि प्रमाण से सर्वथा अभिन्न फल के फलाभासता कैसे है ? उत्तर—इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिए, फल के सर्वथा अभिन्नपना स्वीकार करने पर यह प्रमाण है और यह इस प्रमाण का फल है, इस प्रकार के व्यवहार की उत्पत्ति नहीं बन सकेगी।

विशेषार्थ—कहने का भाव यह है कि या तो फल ही रहेगा, अथवा प्रमाण ही रहेगा ? दोनों नहीं रह सकेंगे।

सरल व्याख्या—एकान्त रूप से प्रमाण और प्रमाण का फल अभिन्न है, ऐसा बौद्धों की तरह मानते हैं तो फिर यह कहना भी न बन सकेगा कि यह प्रमाण है और यह उसका फल है।

अब कल्पना से प्रमाण और फल का व्यवहार करने में आपत्ति—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्
व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥६८॥

अन्वयार्थ—(व्यावृत्त्या) व्यावृत्ति से अर्थात् अफल की व्यावृत्ति से **(अपि)** भी **(तत्कल्पना)** उस फल की कल्पना **(न)** नहीं की जा सकती अन्यथा **(फलान्तरात् व्यावृत्त्या)** अन्यफल की व्यावृत्ति से **(अफलत्व-प्रसङ्गात्)** अफलपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

सूत्रार्थ—अफल की व्यावृत्ति से भी फल की कल्पना नहीं की जा सकती अन्यथा फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलपने की कल्पना का प्रसंग आ जायेगा।

संस्कृतार्थ—फलाभावस्य व्यावृत्त्यापि फलस्य कल्पना नो संभवेत् फलाभावव्यावृत्त्या फलकल्पनैव सजातीयफलव्यावृत्त्याऽफलकल्पनायाः प्रसङ्गात्।

टीकार्थ—फलाभाव की व्यावृत्ति से भी फल की कल्पना संभव नहीं है। फलाभाव की व्यावृत्ति से फल की कल्पना ही, सजातीय फल की व्यावृत्ति से अफल की कल्पना का प्रसंग आता है।

विशेषार्थ—सूत्र का अभिप्राय यह है कि जैसे फल का विजातीय जो अफल उसकी व्यावृत्ति से आप बौद्ध लोग फल का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार फलान्तर अर्थात् जो सजातीय फल है, उसकी व्यावृत्ति से अफलपने का प्रसंग आता है।

सरल व्याख्या—व्यावृत्ति से फल की कल्पना बौद्ध लोग करते हैं। जैसे फल क्या है ? तो अफल व्यावृत्ति, अर्थात् जो फल नहीं है उसकी व्यावृत्ति होना (अभाव होना)फल है। इसी प्रकार मनुष्य क्या है? तो अमनुष्य-व्यावृत्ति, जो मनुष्य नहीं, उसकी व्यावृत्ति होना, यानि हट जाना सो मनुष्य

है। ऐसी कल्पना मानने पर आचार्य कहते हैं कि फिर तो फलान्तर से व्यावृत्ति होने का नाम अफल हो जायेगा। ऐसी दशा में अन्य सजातीय फल की व्यावृत्ति से अफल की कल्पना भी करनी पड़ेगी। इसलिए अन्य की व्यावृत्ति से जो आप फल का व्यवहार करना चाहते हैं, वह नहीं हो सकता है।

अब आचार्य दूसरे अभेद पक्ष में दृष्टान्त देते हैं–

प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ॥६९॥

अन्वयार्थ–(प्रमाणान्तरात्) अन्य प्रमाण से **(व्यावृत्त्या)** व्यावृत्य होने के कारण **(एव)** ही **(अप्रमाणत्वस्य)** अप्रमाणपने का प्रसंग आता है।

सूत्रार्थ–अन्य प्रमाण की (प्रमाणान्तर) व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग आता है।

संस्कृतार्थ–यथा प्रमाणान्तरव्यावृत्त्या अप्रमाणत्वस्य प्रसङ्गः बौद्धै-रङ्गीकृतस्तथैव फलान्तरव्यावृत्त्या अफलत्वस्य प्रसङ्गः आगच्छेत्।

टीकार्थ–जैसे प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति से अप्रमाणपने का प्रसंग बौद्धों ने स्वीकृत किया है, उसी प्रकार ही फलान्तर की व्यावृत्ति से अफलत्व का प्रसंग आ जावेगा।

सरल व्याख्या–पूर्व की तरह व्यावृत्ति से फल की कल्पना कर लेने पर एक दोष यह भी होगा कि जिस तरह आप बौद्ध लोग अप्रमाण की व्यावृत्ति (हट जाने) से उसे प्रमाण कहते हैं उसी प्रकार कोई प्रमाणान्तर (अन्य सजातीय प्रमाण) की व्यावृत्ति से उसे अप्रमाण भी कह सकता है।

सारांश यह है कि व्यावृत्ति से यदि आप प्रमाण फल की कल्पना करते हैं तो कोई उसी व्यावृत्ति का ही सहारा लेकर उस फल को अफल भी बना सकता है।

यहाँ दृष्टान्त प्रमाण का दिया है कि अप्रमाण की व्यावृत्ति होने से जैसे प्रमाण की सिद्धि होती है उसी प्रकार कोई अन्य प्रमाण (सजातीय प्रमाण) भी व्यावृत्ति से उसे अप्रमाण भी कह सकता है। इसलिए प्रमाण से उसके फल

को सर्वथा अभिन्न मानना ठीक नहीं है।

प्रमाण और उसके फल में भेद का निर्णय–

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥७०॥

अन्वयार्थ–(तस्मात्) इसलिए प्रमाण और प्रमाण के फल में **(वास्तवः)** वास्तव में **(भेदः)** भेद है।

सूत्रार्थ–इसलिए प्रमाण और प्रमाण के फल में परमार्थ से भेद है।

संस्कृतार्थ–अतः प्रमाणे तत्फले वा भेदो वास्तवो विद्यते, एकान्त-रूपेणाभेदो नो वर्तते।

टीकार्थ–इसलिए प्रमाण और प्रमाण के फल में वास्तविक भेद है एकान्तरूप से अभेद नहीं है।

विशेषार्थ–कल्पना से प्रमाण और फल का भेद नहीं मानना चाहिए, किन्तु वास्तविक भेद ही मानना चाहिए,अन्यथा प्रमाण और फल का व्यवहार नहीं बन सकता है।

सरल व्याख्या–इसलिए आप बौद्ध लोग व्यावृत्ति की कल्पना से प्रमाण और प्रमाण फल में भेद न मानें किन्तु उनमें भेद वास्तविक है। यह स्वीकारना चाहिए।

यदि प्रमाण और फल का भेद वास्तविक न माना जाये तो प्रमाण और फल का व्यवहार ही नहीं बन सकता है क्योंकि व्यवहार भी वास्तविकता में ही प्रवृत्त होता है कोरी कल्पना मे नहीं।

इस सूत्र को यूँ भी कुछ लोग कहते हैं–तस्माद् वास्तवोऽभेदः।

इसलिए प्रमाण और फल मे वास्तविक अभेद है, कल्पना से नहीं।

यहाँ 'अभेद' अर्थ ही ज्यादा उचित लगता है क्योंकि अभेद फल का प्रकरण यहाँ पूर्ण होता है।

अब आचार्य भगवन् नैयायिकों के द्वारा माने गए सर्वथा भेदपक्ष में दूषण देते हुए उत्तरसूत्र कहते हैं–

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ॥७१॥

अन्वयार्थ–सर्वथा **(भेदे)** भेद मानने पर **(तु)** तो **(आत्मान्तरवत्)** अन्य आत्मा के समान **(तदनुपपत्तेः)** उस प्रमाण के फल की उपपत्ति सिद्ध न होने से यह भेद मानना दूषित है।

सूत्रार्थ–भेद मानने पर अन्य आत्मा के समान यह इस प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार हो नहीं सकता है।

संस्कृतार्थ–प्रमाणात् फलस्य सर्वथा भिन्नत्वाङ्गीकारेऽयं दोषः समायाति यद्यथा अन्यात्मप्रमाणफलं तथैव निजात्मप्रमाणफलम् उभे एव सदृशे भवेताम्। पुनश्च तत्फलं मदीयप्रमाणस्य विद्यते नान्यदीयप्रमाणस्येति कथं निश्चीयेत। निष्कर्षश्चायं यद्यथान्यात्मप्रमाणफलमस्मदीयात्मप्रमाणफलं नो भवेत् तथा सर्वथा भेदे मदीयात्मप्रमाणफलमपि मदीयं नो व्यावर्ण्येत्।

टीकार्थ–प्रमाण से, फल के सर्वथा भिन्न मानने में यह दोष आता है कि जिस तरह दूसरे आत्मा के प्रमाण का फल उस ही प्रकार अपनी आत्मा के प्रमाण का फल दोनों ही सदृश हो जायेंगे। फिर वह फल मेरे प्रमाण का फल है, दूसरे के आत्मा के प्रमाण का फल नहीं है यह कैसे निश्चित होगा? इसका निष्कर्ष यह है कि जैसे–दूसरे आत्मा के प्रमाण का फल हमारे आत्मा के प्रमाण का फल नहीं होता उसी प्रकार सर्वथा भिन्न होने से मेरी आत्मा के प्रमाण का फल भी मेरा नहीं कहलावेगा।

सरल व्याख्या–नैयायिक लोग प्रमाण और फल को सर्वथा भिन्न मानते हैं।

यदि आप प्रमाण और फल को सर्वथा भिन्न मानेंगे तो हमारी आत्मा के प्रमाण का फल हमें ही मिले यह कोई जरूरी नहीं होगा जैसे दूसरी आत्मा के प्रमाण का फल हमारी आत्मा के प्रमाण का फल नहीं होता है।

अब नैयायिक लोग प्रमाण और प्रमाण के फल को समवाय सम्बन्ध से मानते हैं, इस प्रकार समवाय से मानने पर आचार्य दोष देते हैं–

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥७२॥

अन्वयार्थ—(समवाये) समवाय के मानने में **(अतिप्रसङ्गः)** अतिप्रसंग दोष आता है।

सूत्रार्थ—समवाय के मानने पर अतिप्रसंग दोष आता है।

संस्कृतार्थ—नैयायिकानां कथनं विद्यते यद् यत्रात्मनि प्रमाणं समवाय सम्बन्धेनावतिष्ठेत् तत्रैव फलमपि समवायसम्बन्धेनावतिष्ठेत्। तदास्य प्रमाणस्येदं फलमिति व्यवस्था समवाय सम्बन्धेन भवेत्। अत्र सूत्रे तेषामस्या एवाशङ्काया निषेधो विहितः यद् युष्माभिः बौद्धैः समवायो नित्यो व्यापकश्च मतः। तेनायं निर्णयः कथं भवेत् यदत्रैवात्मनि एतत्फलं समवाय सम्बन्धेनाव-तिष्ठते नान्यत्र।

टीकार्थ—नैयायिकों का ऐसा कथन है, जो जिस आत्मा में प्रमाण समवाय सम्बन्ध से स्थित है, उसमें ही फल भी समवाय सम्बन्ध से स्थित है। तब इस प्रमाण का यह फल है, इस प्रकार की व्यवस्था समवाय सम्बन्ध से होती है। इस सूत्र में उन नैयायिकों की इस ही शंका का निषेध किया गया है, जो तुम बौद्धों के द्वारा समवाय नित्य और व्यापक पदार्थ माना गया है, इससे यह निर्णय कैसे होगा, जो इस आत्मा में ही यह फल समवाय सम्बन्ध से रहता है, दूसरे आत्मा में नहीं।

विशेषार्थ—समवाय के नित्य तथा व्यापक होने से वह सभी आत्माओं में समान धर्मरूप से रहेगा। अतः यह फल इसी प्रमाण का है, अन्य का नहीं है। इस प्रकार के प्रतिनियत नियम का अभाव होगा।

सरल व्याख्या—नैयायिक लोग समवाय के माध्यम से सभी द्रव्य और गुणों का संयोग मानते हैं इसी प्रकार समवाय से यदि प्रमाण फल अपनी आत्मा में ही मिलेगा तो आचार्य कहते हैं कि वह समवाय तो नित्य, एक, व्यापक है उसका काम यह तो नहीं है कि फल को आपकी आत्मा से ही चिपकाए। समवाय का काम यदि संयोग में सहायक पना है तो किसी की भी आत्मा के प्रमाण फल का संयोग किसी भी आत्मा में हो जायेगा। इस तरह अति प्रसंग दोष आयेगा।

इस तरह फलाभास का वर्णन सूत्र ६६ से ७२ तक ७ सूत्रों में पूर्ण हुआ।

अब अपने पक्ष के साधन और परपक्ष के दूषण व्यवस्था को दर्शाते हैं—

प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ॥७३॥

अन्वयार्थ—(प्रमाणतदाभासौ) प्रमाण और प्रमाणाभास **(प्रति-वादिनः)** प्रतिवादी से **(दुष्टतयोद्भावितौ)** दूषित होने पर वे दोनों अर्थात् प्रमाण और प्रमाणाभास प्रकट होने वाले होते हैं तथा **(वादिनः)** वादी से **(परिहृता-परिहृतदोषौ)** परिहृत और अपरिहृत दोष वाले होते हैं तब वे वादी के **(साधनतदाभासौ)** साधन और साधनाभास होते हैं **(च)** तथा प्रतिवादी के **(दूषणभूषणे)** दूषण और भूषण।

सूत्रार्थ—वादी के द्वारा प्रयुक्त प्रमाण और प्रमाणाभास प्रतिवादी के द्वारा दोष रूप से उद्भावित किये जाने पर वादी से परिहृत और अपरिहृत दोष वाले रहते हैं तो वे वादी के लिए साधन और साधनाभास हैं और प्रतिवादी के लिए दूषण और भूषण हैं।

(मूल प्रति में संस्कृतार्थ उपलब्ध नहीं हुआ।)

विशेषार्थ—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वाद के समय वादी ने पहले प्रमाण को उपस्थित किया, प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। पुनः वादी ने उस दोष का परिहार कर दिया तो वादी के लिए वह साधन हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए दूषण हो जायेगा। इसी प्रकार जब वादी ने प्रमाणाभास कहा प्रतिवादी ने दोष बतलाकर उसका उद्भावन कर दिया। तब यदि वादी उसका परिहार नहीं कर पाया, तो वह वादी के लिए साधनाभास हो जायेगा और प्रतिवादी के लिए भूषण हो जायेगा। **वादी किसे कहते हैं** ? शास्त्रार्थ के समय जो अपना पक्ष रखता है, वह वादी है। **प्रतिवादी किसे कहते हैं** ? जो वादी का प्रतिवाद करता है, वह प्रतिवादी कहलाता है। **शास्त्रार्थ में जीत एवं हार किसकी होती है** ? जो अपने पक्ष पर आए हुए दूषणों का परिहार करके अपने पक्ष को सिद्ध कर देता है, शास्त्रार्थ में उसकी जीत होती है और जो वैसा नहीं कर पाता उसकी हार होती है। **प्रमाण और प्रमाणाभास को जानने का फल क्या है** ?

अपने पक्ष को सिद्ध कर लेना और पर पक्ष में दूषण दे देना यही प्रमाण और प्रमाणाभास का फल है।

सरल व्याख्या—वादी ने जो प्रमाण का प्रयोग किया, प्रतिवादी ने उसमें दोष दे दिया और वादी यदि उन दोषों का परिहार कर देता है तो वह वादी के लिए साधन होगा और प्रतिवादी के लिए दूषण होगा। अर्थात् अपना पक्ष सिद्ध कर लेने पर वादी की जीत होगी।

इसके विपरीत यदि वादी ने प्रमाणाभास प्रस्तुत कर दिया और प्रतिवादी ने उसमें दूषण लगा दिया तब वादी उस दोष का परिहार नहीं कर पाया तो प्रतिवादी के लिए भूषण बन जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में यह सूत्र देने का अभिप्राय यह है कि वादी अपने प्रमाण की प्रस्तुति सही ढंग से करे। चित्त की व्याकुलता या मान बढ़ाई में आकर यदि पक्ष की प्रस्तुति गलत हो गई तो यही गलती प्रतिवादी के लिए जीत का कारण बन जाती है।

यह वाद-प्रतिवाद शतरंज के खेल की तरह है। उल्टी चाल चलने पर जीतने वाला खिलाड़ी भी हार जाता है।

अब उक्त प्रकार से प्रमाण के स्वरूप-संख्यादि सम्बन्धि समस्त विप्रतिपत्तियों के निराकरण द्वारा अपने प्रतिज्ञात प्रमाणतत्त्व की परीक्षा करके नय, निक्षेपादि तत्त्व भी अन्य ग्रन्थों में कहे गए हैं, उन्हें वहीं से जान लेना चाहिए, यह बात बतलाते हुए आचार्य सूत्र कहते हैं—

संभवदन्यद्विचारणीयम् ॥७४॥

अन्वयार्थ—(संभवत्) संभव **(अन्यत्)** अन्य नय निक्षेपादि **(विचारणीयम्)** विचारणीय हैं।

सूत्रार्थ—वस्तु तत्त्व की सिद्धि के लिए संभव अन्य नय-निक्षेपादि भी विचारणीय हैं।

संस्कृतार्थ—अत्र शास्त्रे केवलं प्रमाणविवेचनं विहितम्। एतद् भिन्नं नयादितत्त्वविवेचनम् ग्रन्थान्तराद्विलोकनीयम्।

टीकार्थ–इस ग्रन्थ में केवल प्रमाण विवेचन को कहा गया है, इससे भिन्न नयादि तत्त्वों का विवेचन अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए या देखना चाहिए।

विशेषार्थ–न्याय का क्या अर्थ है ? विभिन्न प्रमाणों द्वारा वस्तुतत्त्व की परीक्षा करना। **न्यायदर्शन का उद्देश्य क्या है** ? प्रमाणों के द्वारा प्रमेय (जानने योग्य) वस्तु का विचार करना और प्रमाणों का विस्तृत विवेचन करना न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश्य है। **न्यायदर्शन में किन सत् पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है** ? प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान इन सोलह सत् पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः इनका परिज्ञान करना आवश्यक है।

अन्तिम भावना

परीक्षामुखमादर्शं, हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः, परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥

अर्थ–(हेयोपादेयतत्त्वयोः) हेय और उपादेय तत्त्वों के **(संविदे)** ज्ञान के लिए **(आदर्शम्)** दर्पण के सदृश इस **(परीक्षामुखम्)** परीक्षामुख ग्रन्थ को **(मादृशः)** मेरे जैसे **(बालः)** बालक/अज्ञानी ने **(परीक्षादक्षवत्)** परीक्षा में कुशल पुरुष के समान **(व्यधाम्)** रचा।

श्लोकार्थ–हेय और उपादेय तत्त्व के ज्ञान के लिए आदर्श/दर्पण के सदृश इस परीक्षामुख ग्रन्थ को मेरे जैसे बालक ने परीक्षा-दक्ष पुरुष के समान रचा।

आचार्यदेव यहाँ पर स्वयं को भी बालक बताकर अपनी लघुता प्रदर्शित करते हैं।

जैसे परीक्षा में कुशल विद्वान् पुरुष अपने प्रारब्ध कार्य को पूर्ण करता है उसी प्रकार मैंने भी यह ग्रन्थ पूर्ण करके अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है।

षष्ठ परिच्छेद का सारांश

इस अध्याय में ७४ सूत्र हैं। पिछले ५ अध्यायों में प्रमाण के स्वरूप आदि का वर्णन किया था। उसके विपरीत मान्यता को इस अध्याय में बताया है। विपरीत स्वरूप को ही आभास कहते हैं। मंगलाचरण में ही यह संकल्प किया था कि प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों का वर्णन इस ग्रन्थ में करेंगे। उसी प्रमाणाभास का वर्णन इस अध्याय में है। इसको और स्पष्ट समझने के लिए आभासों का चार्ट देखें।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

परिशिष्ट-१

आवश्यक निबन्धमाला

असाधारण धर्मवचन के लक्षणत्व का निर्णय

''असाधारणधर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं'' ऐसा किन्हीं (नैयायिक और हेमचन्द्राचार्य) का कहना है; पर वह ठीक नहीं है। क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मिवचन का लक्षणरूप धर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्दसामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसङ्ग आता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

यदि असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाये तो लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। यह नियम है कि लक्ष्य-लक्षणभावस्थल में लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्व-रूप सामानाधिकरण्य अवश्य होता है। जैसे–'ज्ञानी जीवः' अथवा 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इनमें शाब्द सामानाधिकरण्य है। यहाँ 'जीवः' लक्ष्यवचन है; क्योंकि जीव का लक्षण किया जा रहा है। और 'ज्ञानी' लक्षणवचन है; क्योंकि वह जीव को अन्य अजीवादि पदार्थों से व्यावृत्त कराता है। 'ज्ञानवान् जीव है' इसमें किसी को विवाद नहीं है। अब यहाँ देखेंगे कि 'जीवः' शब्द का जो अर्थ है वही 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है। और जो 'ज्ञानी' शब्द का अर्थ है वही 'जीवः' शब्द का अर्थ है। अतः दोनों का वाच्यार्थ एक है। जिन दो शब्दों–पदों का वाच्यार्थ एक होता है उनमें शाब्दसामानाधिकरण्य होता है। जैसे 'नीलं कमलम्' यहाँ स्पष्ट है। इस तरह 'ज्ञानी' लक्षणवचन में और 'जीवः' लक्ष्यवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप शाब्दसमानाधिकरण्य सिद्ध है। इसी प्रकार 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ भी जानना चाहिए।

इस प्रकार जहाँ कहीं भी निर्दोष लक्ष्यलक्षणभाव किया जावेगा वहाँ सब जगह शाब्दसामानाधिकरण्य पाया जायेगा। इस नियम के अनुसार 'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्' यहाँ असाधारणधर्म जब लक्षण होगा तो

लक्ष्य धर्मी होगा और लक्षणवचन धर्मवचन तथा लक्ष्यवचन धर्मीवचन माना जायेगा। किन्तु लक्ष्यरूप धर्मीवचन का प्रतिपाद्य अर्थ एक नहीं है। धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ तो धर्म है और धर्मीवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्मी है। ऐसी हालत में दोनों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न-भिन्न होने से धर्मीरूप लक्ष्यवचन और धर्मरूपलक्षणवचन में एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधि-करण्य सम्भव नहीं है और इसलिए उक्त प्रकार का लक्षण करने में शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्त असम्भव दोष आता है।

अव्याप्ति दोष भी इस लक्षण में आता है। दण्डादि असाधारणधर्म नहीं है फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की उष्णता, जीव का ज्ञान आदि जैसे अपने लक्ष्य में मिले हुए होते हैं इसलिए वे उनके असाधारणधर्म कहे जाते हैं। वैसे दण्डादि पुरुष में मिले हुए नहीं हैं—उससे पृथक् हैं और इसलिए वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं है। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एकदेश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारणधर्म के न रहने से लक्षण (असाधारणधर्म) अव्याप्त है।

इतना ही नहीं, इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी आता है। शावलेयत्वादि-रूप असाधारण धर्म अव्याप्त नाम का लक्षणाभास भी है। इसका खुलासा निम्नप्रकार है–

मिथ्या अर्थात् सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—१. अव्याप्त, २. अतिव्याप्त और ३. असम्भव। लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का 'शावलेयत्व'। 'शावलेयत्व' सब गायों में नहीं पाया जाता, वह कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना। यह 'पशुत्व' गायों के सिवाय अश्वादि पशुओं में भी पाया जाता है इसलिए 'पशुत्व' अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में बिल्कुल ही नहीं रहे वह असम्भव लक्षणाभास है। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्य में नहीं पाया जाता, अतः वह असम्भव लक्षणाभास

है।

यहाँ लक्ष्य के एकदेश में रहने के कारण 'शावलेयत्व' अव्याप्त है, फिर भी उसमें असाधारण धर्मत्व रहता है–'शावलेयत्व' गाय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता–गाय में ही पाया जाता है। परन्तु वह लक्ष्यभूत समस्त गायों का व्यावर्त्तक–अश्वादि से जुदा करने वाला नहीं हैं–कुछ ही गायों को व्यावृत्त कराता है। इसलिए अलक्ष्यभूत अव्याप्त लक्षणाभास में असाधारण- धर्म के रहने के कारण अतिव्याप्त भी है। इस तरह असाधारणधर्म को लक्षण कहने में असम्भव, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति ये तीनों ही दोष आते हैं। अतः ''मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु के अलग कराने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं'' यही लक्षण ठीक हैं।

प्रमाण के प्रामाण्य का निर्णय

प्रामाण्य का निश्चय–अभ्यस्त विषय में तो स्वतः होता है और अनभ्यस्त विषय में पर से होता है। तात्पर्य यह कि प्रामाण्य की उत्पत्ति तो सर्वत्र पर से ही होती है, किन्तु प्रामाण्य का निश्चय परिचित विषय में स्वतः और अपरिचित विषय में परतः होता है। परिचित–कई बार जाने हुए अपने गाँव के तालाब का जल वगैरह अभ्यस्तविषय हैं और अपरिचित–नहीं जाने हुए दूसरे गाँव के तालाब का जल वगैरह अनभ्यस्तविषय हैं। ज्ञान का निश्चय कराने वाले कारणों के द्वारा ही प्रामाण्य का निश्चय होना 'स्वतः' है और उससे भिन्न कारणों से होना 'परतः' है।

उनमें से अभ्यस्तविषय में 'जल है' इस प्रकार ज्ञान होने पर ज्ञानस्वरूप के निश्चय के समय में ही ज्ञानगत प्रमाणता का भी निश्चय अवश्य हो जाता है। नहीं तो दूसरे ही क्षण में जल में सन्देहरहित प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु जलज्ञान के बाद ही सन्देहरहित प्रवृत्ति अवश्य होती है। अतः अभ्यासदशा में तो प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है।

पर अनभ्यासदशा में जलज्ञान होने पर ''जलज्ञान मुझे हुआ'' इस प्रकार से ज्ञान के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर भी उसके प्रामाण्य का निश्चय अन्य (अर्थक्रियाज्ञान अथवा संवादज्ञान) से ही होता है। यदि प्रामाण्य

का निश्चय अन्य से न हो—स्वतः ही हो तो जलज्ञान के बाद सन्देह नहीं होना चाहिए। पर सन्देह अवश्य होता है कि ''मुझको जो जल का ज्ञान हुआ है वह जल है या बालू का ढेर ?'' इस सन्देह के बाद ही कमलों की गन्ध, ठण्डी हवा के आने आदि से जिज्ञासु पुरुष निश्चय करता है कि ''मुझे जो पहले जल का ज्ञान हुआ है वह प्रमाण है—सच्चा है, क्योंकि जल के बिना कमल की गन्ध आदि नहीं आ सकती है।'' अतः निश्चय हुआ कि अपरिचितदशा में प्रामाण्य का निर्णय पर से ही होता है।

यौगाभिमत सन्निकर्ष के प्रत्यक्षता का निराकरण

नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्ष—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष मानते हैं। पर वह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है, वह प्रमिति के प्रति करण कैसे हो सकता है ? प्रमिति के प्रति जब करण नहीं, तब प्रमाण कैसे ? और जब प्रमाण ही नहीं, तो प्रत्यक्ष कैसे ?

दूसरी बात यह है कि चक्षुइन्द्रिय 'रूप का ज्ञान' सन्निकर्ष के बिना ही कराता है, क्योंकि यह अप्राप्यकारी है। इसलिए सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्षज्ञान होने से प्रत्यक्ष में सन्निकर्षरूपता ही नहीं है। चक्षुइन्द्रिय को जो यहाँ अप्राप्यकारी कहा गया है वह असिद्ध नहीं है। कारण, प्रत्यक्ष से चक्षु-इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीत होती है।

शंका—यद्यपि चक्षुइन्द्रिय की प्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करना) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती तथापि उसे परमाणु की तरह अनुमान से सिद्ध करेंगे। जिस प्रकार परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी ''परमाणु है क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते'' इस अनुमान से उसकी सिद्धि होती है उसी प्रकार 'चक्षुइन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाश करने वाली है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय हैं (बाहर से देखी जाने वाली इन्द्रिय है) जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त करके ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शनइन्द्रिय' इस अनुमान से चक्षु में प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। अतः चक्षुइन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है। अर्थात् चक्षुइन्द्रिय भी सन्निकर्ष के होने पर ही रूपज्ञान कराती है। इसलिए

सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है ?

समाधान—नहीं; यह अनुमान सम्यक् अनुमान नहीं है—अनुमानाभास है। वह इस प्रकार से है—

इस अनुमान में 'चक्षु' पद से कौन-सी चक्षु को पक्ष बनाया है ? लौकिक (गोलकरूप) चक्षु को अथवा अलौकिक (किरणरूप) चक्षु को पहले विकल्प में, हेतु कालात्यापदिष्ट (बाधितविषय नाम का हेत्वाभास) है; क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषय-प्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है।

दूसरे विकल्प में, हेतु आश्रयासिद्ध है; क्योंकि किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है। दूसरी बात यह है, कि वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है। अतः उपर्युक्त अनुमानगत हेतु कालात्यापदिष्ट और आश्रयासिद्ध होने के साथ ही प्रकरण सम (सत्प्रतिपक्ष) भी है। इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान होता है। इसलिए सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

शंका-समाधानपूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि

शंका—सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कहते हैं कि ''अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ हैं'? क्योंकि जो सामान्यतया कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है उसका किसी खास जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं; सर्वज्ञता अनुमान से सिद्ध है। वह अनुमान इस प्रकार है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं।

जैसे अग्नि आदि पदार्थ। स्वामी समन्तभद्र ने भी महाभाष्य के प्रारम्भ में आप्तमीमांसाप्रकरण में कहा है—''सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं ? जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ भले प्रकार सिद्ध होता है।''

सूक्ष्मपदार्थ वे हैं जो स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं—दूर हैं, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित वे हैं जो काल से विप्रकृष्ट हैं, जैसे—राम आदि। दूर वे हैं जो देश से विप्रकृष्ट हैं, जैसे—मेरु।

ये 'स्वभाव, काल और देश से विप्रकृष्ट पदार्थ' यहाँ धर्मी (पक्ष) है। 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' यह साध्य है। यहाँ 'प्रत्यक्ष' शब्द का अर्थ ''प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय' यह विवक्षित है, क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में भी उपचार होता है। 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त में 'अनुमान से जाने जाते हैं' यह हेतु 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' इस साध्य के साथ पाया जाता है। अतः वह परमाणु वगैरह सूक्ष्मादि पदार्थों में भी किसी की प्रत्यक्षता को अवश्य सिद्ध करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अग्नि आदि अनुमान से जाने जाते हैं। अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी होते हैं। उसी प्रकार सूक्ष्मादि अतीन्द्रियपदार्थ चूँकि हम लोगों के द्वारा अनुमान से जाने जाते हैं। अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है। परमाणु आदि में ''अनुमान से जाने जाते हैं'' यह हेतु असिद्ध भी नहीं हैं क्योंकि उनको अनुमान से जानने में किसी को विवाद नहीं है। अर्थात् सभी मत वाले इन पदार्थों को अनुमेय मानते हैं।

शंका–सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो, यह हम मान सकते हैं। परन्तु वह अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है, यह कैसे ?

समाधान—इस प्रकार है—यदि ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय (सन्निहित और वर्तमान अर्थ) में ही ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ–विषयक ज्ञान अतीन्द्रिय ही है—इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित अतीन्द्रिय है, यह बात सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सर्वज्ञ को मानने में किसी भी सर्वज्ञवादी को विवाद नहीं है। जैसा कि दूसरे भी कहते हैं—'पुण्य–पापादिक किसी के

प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि वे प्रमेय हैं।'

सामान्य से सर्वज्ञ को सिद्ध करके अरिहन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि—

शंका—सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् करने वाला अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यतया सिद्ध हो; परन्तु वह अरिहन्त के है, यह कैसे ? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक होता है ?

समाधान—सत्य है। इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि की है। 'अरिहन्त सर्वज्ञ हैं यह हम अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—अरिहन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है, जैसे रथ्यापुरुष (पागल)।' यह केवलव्यतिरेकि-हेतुजन्य अनुमान है।

आवरण और रागादि ये दोष हैं और इनसे रहितता का नाम निर्दोषता है। वह निर्दोषता सर्वज्ञता के बिना नहीं हो सकती है। क्योंकि जो किञ्चिज्ञ है—अल्प ज्ञानी है उसके आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। अतः अरिहंत में रहने वाली यह निर्दोषता उनमें सर्वज्ञता को अवश्य सिद्ध करती है और यह निर्दोषता अरिहन्त परमेष्ठी में उनके युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन होने से सिद्ध होती है। युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन भी उनके द्वारा माने गये मुक्ति, संसार और मुक्ति तथा संसार के कारण तत्त्व और अनेक धर्म युक्त चेतन तथा अचेतन तत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित न होने से अच्छी तरह सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि अरिहन्त के द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है। अतः वे यथार्थ वक्ता हैं और यथार्थ वक्ता होने से निर्दोष हैं तथा निर्दोष होने से सर्वज्ञ हैं।

शंका—इस प्रकार अरिहन्त के सर्वज्ञता सिद्ध हो जाने पर भी वह अरिहन्त के ही है, यह कैसे ? क्योंकि कपिल आदि के भी वह सम्भव है ?

समाधान—कपिल आदि सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि वे सदोष हैं और सदोष इसलिए हैं कि वे युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले हैं। युक्ति और शास्त्र से विरोधी कथन करने वाले भी इस कारण हैं कि उनके द्वारा माने गये

मुक्ति आदिक तत्त्व और सर्वथा एकान्ततत्त्व प्रमाण से बाधित हैं। अत: वे सर्वज्ञ नहीं हैं। अरिहन्त ही सर्वज्ञ हैं। स्वामी समन्तभद्र ने भी कहा है–'हे अर्हन्! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं। निर्दोष इसलिए हैं कि युक्ति और आगम से आपके वचन अविरुद्ध हैं–युक्ति तथा आगम से उनमें कोई विरोध नहीं आता और वचनों में विरोध इस कारण नहीं है कि आपका इष्ट (मुक्ति आदि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं है। किन्तु तुम्हारे अनेकान्तमतरूप अमृत का पान नहीं करने वाले तथा सर्वथा एकान्ततत्त्व का कथन करने वाले और अपने को आप्त समझने के अभिमान से दग्ध हुए एकान्तवादियों का इष्ट (अभिमत तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित है।' इसलिए अरिहन्त ही सर्वज्ञ हैं।

आगम प्रमाण का लक्षण

आप्त के वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है और शेष उसका लक्षण है। ''अर्थज्ञान को आगम कहते हैं'' इतना ही यदि आगम का लक्षण कहा जाये तो प्रत्यक्षादिक में अतिव्याप्ति है, क्योंकि प्रत्यक्षादिक भी अर्थज्ञान हैं। इसलिए 'वचनों से होने वाले' यह पद–विशेषण दिया है। वचनों से होने वाले अर्थज्ञान को आगम का लक्षण कहने में भी स्वेच्छापूर्वक जिस किसी के कहे हुए भ्रमजनक वचनों से होने वाले अथवा सोये हुए पुरुष के और पागल आदि के वाक्यों से होने वाले 'नदी के किनारे फल हैं' इत्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति है, इसलिए 'आप्त' यह विशेषण दिया है। 'आप्त के वचनों से होने वाले ज्ञान को' आगम का लक्षण कहने में भी आप्त के वाक्यों को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसमें लक्षण अतिव्याप्त है, अत: 'अर्थ' यह पद दिया है। 'अर्थपद' तात्पर्य में रूढ़ है। अर्थात् प्रयोजनार्थक है क्योंकि 'अर्थ ही–तात्पर्य ही वचनों में है' ऐसा आचार्यवचन है। मतलब यह कि यहाँ 'अर्थ' पद का अर्थ 'तात्पर्य' विवक्षित है, क्योंकि वचनों में तात्पर्य ही होता है। इस तरह आप्त के वचनों से होने वाले अर्थ (तात्पर्य) ज्ञान को जो आगम का लक्षण कहा गया है वह पूर्ण निर्दोष है। जैसे–'सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग:' (त.सू. १–

१) ''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता (सहभाव) मोक्ष का मार्ग है''। इस प्रकार यह वाक्यार्थज्ञान है। सम्यग्दर्शनादिक 'सम्पूर्ण कर्मों के क्षयरूप' मोक्ष का 'मार्ग है' अर्थात् उपाय है न कि 'मार्ग हैं'। अतएव भिन्न-भिन्न लक्षण वाले सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग हैं, एक एक नहीं, ऐसा अर्थ 'मार्गः इस एक वचन के प्रयोग के तात्पर्य से सिद्ध होता है। यही उक्त वाक्य का अर्थ है। और इसी अर्थ में प्रमाण से संशयादिक की निवृत्तिरूप प्रमिति होती है।

प्रमाणवचन के सप्तभंग

सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्वमुख से वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाणवचन का पहला रूप है। असत्त्वमुख से वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाणवचन का दूसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुख से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन करना प्रमाणवचन का तीसरा रूप है। सत्त्व और असत्त्व उभयधर्ममुख युगपत् (एकसाथ) वस्तु का प्रतिपादन करना असम्भव है, इसलिए अवक्तव्य नाम का चौथा रूप प्रमाणवचन का निष्पन्न होता है। उभयधर्ममुख युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ सत्त्वमुख से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है इस तरह से प्रमाणवचन का पाँचवाँ रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार उभयधर्ममुख युगपत वस्तु के प्रतिवादन की असम्भवता के साथ-साथ असत्त्वमुख से भी वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है इस तरह से प्रमाणवचन का छठा रूप बन जाता है। और उभयधर्ममुख युगपत् वस्तु के प्रतिपादन की असम्भवता के साथ-साथ उभयधर्ममुख से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है इस तरह से प्रमाणवचन का सातवाँ रूप बन जाता है। जैनदर्शन में इसको प्रमाणसप्तभंगी नाम दिया गया है।

नयवचन के सप्तभंग

वस्तु के सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों में से सत्त्वधर्म का प्रतिपादन करना नयवचन का पहला रूप है। असत्त्व धर्म का प्रतिपादन करना नयवचन का दूसरा रूप है। उभय धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन करना नयवचन का तीसरा रूप है। और चूँकि उभयधर्मों का युगपत् प्रतिपादन करना असम्भव है

अतः इस तरह से अवक्तव्य नाम का चौथा रूप नयवचन का निष्पन्न होता है। नयवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों को प्रमाणवचन के पाँचवें, छठे और सातवें रूपों के समान समझ लेना चाहिए। जैनदर्शन में नयवचन के इन सात रूपों को नयसप्तभंगी नाम दिया गया हैं।

इन दोनों प्रकार की सप्तभंगियों में इतना ध्यान रखने की जरूरत है कि जब सत्त्व-धर्ममुख से वस्तु के सत्त्वधर्म का प्रतिपादन किया जाता है तो उस समय वस्तु की असत्त्वधर्मविशिष्टता को अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म को अविवक्षित मान लिया जाता है और यही बात असत्त्वधर्ममुख से वस्तु का अथवा वस्तु के असत्त्वधर्म का प्रतिपादन करते समय वस्तु की सत्त्वधर्म-विशिष्टता अथवा वस्तु के सत्त्वधर्म के बारे में समझना चाहिए। इस प्रकार उभयधर्मों की विवक्षा (मुख्यता) और अविवक्षा (गौणता) के स्पष्टीकरण के लिए स्याद्वाद अर्थात् स्यात् की मान्यता को भी जैनदर्शन में स्थान दिया गया है।

स्याद्वाद का अर्थ है—किसी भी धर्म के द्वारा वस्तु का अथवा वस्तु के किसी भी धर्म का प्रतिपादन करते वक्त उसके सप्त भंग के नाम स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्त्यवक्तव्य, स्यान्नास्त्यवक्तव्य, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य। अनुकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य में रखना। और इस तरह से ही वस्तु की विरुद्धधर्मविशिष्टता अथवा वस्तु में विरुद्ध धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकार के स्याद्वाद को नहीं अपनाया जायेगा तो वस्तु की विरुद्धधर्मविशिष्टता का अथवा वस्तु में विरोधी धर्म का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा।

इस तरह से अनेकान्तवाद का भी जीवन समाप्त हो जायेगा।

इस प्रकार अनेकान्तवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, सप्तभंगी और स्याद्वाद ये जैनदर्शन के अनूठे सिद्धान्त हैं। इनमें से एक प्रमाणवाद को छोड़कर बाकी के चार सिद्धान्तों को तो जैनदर्शन की अपनी ही निधि कहा जा सकता है और ये चारों सिद्धान्त जैनदर्शन की अपूर्वता एवं महत्ता के अतीव

परिचायक हैं।

स्याद्वादात्मकसप्तभङ्गात्मकानेकान्तवादसिद्धि :

परस्परविरुद्धधर्माणां समानाधिकरणस्यासंभाव्यमानत्वेन कथं प्रमाण-प्रतिपन्नार्थानां तदात्मकत्वं, प्रतीतिविरोधात्, एकान्तस्वरूपोपलब्धेश्च इति चेन्न पदार्थानामनेकान्तात्मकत्वस्य अनुमानादिप्रमाणप्रतिपन्नत्वेन सर्वथैकान्त-स्वरूपानुपलब्धेः। तथा चानुमानम् नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तत्त्वम्, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेः। ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं, यद्बलाद्वस्तुनि सर्वथैकान्ताभावः साध्यते इति चेदुच्यते। सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वं एकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्म-कत्वम्।

तत्साधकानुमानप्रयोगः- सर्वमनेकान्तात्मकत्वं सत्त्वात्। यन्नानेकान्तात्मकं तन्न सत् यथा गगनारविंदमिति। ननु यद्यपि अरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति, ततो न सहेत्वहेतु व्यावृत्तिः, इति चेत्तर्हि तदेतदरविंदाधिकरण-विशेषापेक्षया सदसदात्मकानेकान्तमिति अन्वयदृष्टान्तत्वं भवतैव प्रतिपादित-मिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। ततो नयानां मुख्यत्वगौणत्व-विवक्षाभ्यां निखिलवस्तुनि अनेकधर्मसामानाधिकरण्यमविरुद्धं सत् सिद्धिमध्यास्ते एव। ''नयान्तरविषयसापेक्षाः सन्नयाः'' इत्यभिधानात्।

यथा सुवर्णमानयेत्युक्ते सति द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण स्वर्णद्रव्यानयन-चोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, स्वर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानं पर्यायार्थिक-नयमवलम्व्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्। ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण स्वर्णं स्यादेकमेव, पर्यायार्थिक-नयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव, क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकानेकं, युगपदुभय-नयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यं। युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वा-नेकत्वयोः विमर्शाभावात् युगपदुभयनयाभिप्रायेण द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेन च स्यादेकावक्तव्यं, युगपदुभयनयाभिप्रायेण पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण च स्यादनेकावक्तव्यं, क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण युगपदुभयनयाभिप्रायेण च स्यादेका-

नेकावक्तव्यम्। सैषा नय-विनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते। भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्त्वात्। सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति सिद्धेः नन्वेकत्र वस्तुनि सप्तानां भङ्गानां कथं संभवः इति चेत्-यथैकस्मिन् घटे रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति पृथक् व्यहारनिबन्धना रूपत्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति, तथैकस्मिन् वस्तुनि स्वस्वरूपावस्थितानां सप्तभङ्गानां सम्भवं ज्ञात्वा सन्तोष्टव्यमायुष्मता। तदुक्तं च श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्यैः

''अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनय साधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोर्पितान्नयात्''॥१०३॥

[वृहद् स्वम्भूस्तोत्रान्तर्गतारनाथस्तवनं]

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।

निरपेक्षा नयाः मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत् ॥१०८॥

[आप्तमीमांसा] इत्यनेकान्तसिद्धिः।

''असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्''। ननु असाधारणधर्मवचनं लक्षणं कथं न समीचीनमिति चेत्-उच्यते; तदेव हि सम्यक्लक्षणं यद्व्याप्त्यादि-दोषत्रयशून्यम्। न चात्र लक्षणेऽव्याप्त्यादिदोषत्रयाभावः। तथा हि-अशेषैरपि वादिभिर्दण्डी, कुण्डली, वासस्वी देवदत्त इत्यादौ दण्डादिकं देवदत्तस्य लक्षण-मुररीक्रियते, परं दण्डादेरसाधारणधर्मत्वं नास्ति, तस्य पृथक्भूतस्यापृथक्-भूतत्वासम्भवात्। अपृथक्भूतस्य चासाधारणधर्मत्वमिति तवाभिप्रायः। तथा च लक्ष्यैकदेशेऽनात्मभूतलक्षणे दण्डादौ असाधारणधर्मत्वस्याभावाद-व्याप्तिरित्येव तात्पर्यमाश्रित्योक्तं ग्रन्थकृता ''दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वा-दिति''।

किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि शावलेयत्वादेरसाधारण-धर्मत्वादतिव्याप्तिः। गोः शावलेयत्वं जीवस्य भव्यत्वं मतिज्ञानित्वं वा न गवादीनां लक्षणमिति सुप्रतीतम्, शावलेयत्वस्य सर्वत्र गोष्ववृत्तेः। भव्यत्वस्य मतिज्ञानित्वस्य वा सर्वजीवेष्ववर्त्तमानत्वादव्याप्तेः। परन्तु शावलेयत्वस्य

भव्यत्वादे र्वाऽसाधारणधर्मत्वमस्ति। यतो हि तेषां गवादिभ्यो भिन्नेष्ववृत्तित्वात्। तदितरावृत्तित्वं ह्यसाधारणत्वमिति। ततः शावलेयत्वादावव्याप्ताभिधाने लक्षणाभासे असाधारणधर्मस्यातिव्याप्तिरिति बोध्यम्।

अपि च लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्। तथा हि–सामानाधिकरण्यं द्विविधम्–शाब्दमार्थञ्च। ययोर्द्वयोरेकत्र वृत्तिस्तयोरार्थसामानाधिकरण्यम्, यथा रूपरसयोः। ययोर्द्वयोः शब्दयोश्चैकः प्रतिपाद्योऽर्थस्तयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्, यथा घट-कलशशब्दयोः। सर्वत्र हि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं भवति ताभ्यां प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकत्वात् यथा उष्णोऽग्निः, ज्ञानी जीवः, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, इत्यादौ उष्णः, ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानम्, एतानि लक्षणवचनानि। अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यवचनानि। अत्र लक्षण-वचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यः। एवं लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः। यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्तं भवति, अग्निरित्युक्तं उष्ण इत्युक्तं भवति इत्यादि बोध्यम्। ततश्चेदं सिद्धं यत्र कुत्राऽपि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचनलक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्। इत्थं च प्रकृतेऽसाधारण-धर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनं धर्मवचनं, लक्ष्यवचनं च धर्मिवचनं स्यात्। न च लक्षणवचनरूप-धर्मवचनलक्ष्यवचनरूप-धर्मिवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यमस्ति ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात्। धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नौ। तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षण-वचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति। ततश्च शाब्दसामानाधिकरण्या-भावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव। तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकमपि तु परस्परव्यतिकरे येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षण-मित्यकलङ्कम्।

॥ समाप्त॥

परिशिष्ट-२

सूत्रपाठः

प्रथमः परिच्छेदः

प्रमाणादर्थसंसिद्धि - स्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयो-र्लक्ष्म, सिद्धमल्पं लघीयसः ॥

१. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।
३. तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्।
४. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः।
५. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।
६. स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।
७. अर्थस्येव तदुन्मुखतया।
८. घटमहमात्मना वेद्मि।
९. कर्मवत्कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः।
१०. शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्।
११. को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्।
१२. प्रदीपवत्।
१३. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।

द्वितीयः परिच्छेदः

१. तद्द्वेधा।
२. प्रत्यक्षेतरभेदात्।
३. विशदं प्रत्यक्षम्।
४. प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्।
५. इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्।
६. नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत्।
७. तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्चकेशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चर-ज्ञानवच्च।
८. अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत्।

९. स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति।

१०. कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः।

११. सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्।

१२. सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्।

तृतीयः परिच्छेदः

१. परोक्षमितरत्।

२. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।

३. संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।

४. स देवदत्तो यथा।

५. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।

६. यथा स एवायं देवदत्तः, गोसदृशो गवयः गोविलक्षणो महिषः, इदमस्माद् दूरम्, वृक्षोऽयमित्यादि।

७. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।

८. इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव।

९. यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।

१०. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।

११. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।

१२. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।

१३. सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः।

१४. पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।

१५. तर्कात्तन्निर्णयः।

१६. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।

१७. संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्।

१८. अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।

१९. न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः।

२०. प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव।

२१. साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।

२२. पक्ष इति यावत्।

२३. प्रसिद्धो धर्मी।

२४. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये।
२५. अस्ति सर्वज्ञो, नास्ति खरविषाणम्।
२६. प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता साध्या।
२७. अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा।
२८. व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव।
२९. अन्यथा तदघटनात्।
३०. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्।
३१. साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत्।
३२. को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।
३३. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।
३४. न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात्।
३५. तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकप्रमाणबलादेव तत्सिद्धेः।
३६. व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रति-पत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्।
३७. नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः।
३८. तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।
३९. कुतोऽन्यथोपनयनिगमने।
४०. न च ते तदङ्गे, साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात्।
४१. समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात्।
४२. बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्रे एवासौ न वादेऽनुपयोगात्।
४३. दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्।
४४. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।
४५. साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः।
४६. हेतोरुपसंहार उपनयः।
४७. प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
४८. तदनुमानं द्वेधा।
४९. स्वार्थपरार्थभेदात्।
५०. स्वार्थमुक्तलक्षणम्।
५१. परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।
५२. तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।

५३. स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।

५४. उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च।

५५. अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा-व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।

५६. रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।

५७. न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः।

५८. भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रतिहेतुत्वम्।

५९. तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम्।

६०. सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च।

६१. परिणामी शब्दः कृतकत्वात्। य एवं, स एवं दृष्टो यथा घटः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामीति। यस्तु न परिणामी, स न कृतको दृष्टोः यथा बन्ध्यास्तनंधयः। कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी।

६२. अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः।

६३. अस्त्यत्रच्छाया छत्रात्।

६४. उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्।

६५. उद्गाद् भरणिः प्राक्तत एव।

६६. अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात्।

६७. विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा।

६८. नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।

६९. नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।

७०. नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्।

७१. नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्।

७२. नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।

७३. नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्।

७४. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात्।

७५. नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।

७६. नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।

७७. नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः।

७८. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।

७९. न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः।

८०. नोद्गाद् भरणिः मुहूर्त्तात्प्राक् तत एव।

८१. नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः।

८२. विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा—विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धि-भेदात्।

८३. यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति; निरामयचेष्टानुपलब्धेः।

८४. अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात्।

८५. अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः।

८६. परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्।

८७. अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्।

८८. कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ।

८९. नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं, मृगारिसंशब्दनात्। कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा।

९०. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।

९१. अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा।

९२. हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते।

९३. तावता च साध्यसिद्धिः।

९४. तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः।

९५. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

९६. सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः।

९७. यथा मेर्वादयः सन्ति।

चतुर्थः परिच्छेदः

१. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।

२. अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च।

३. सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।

४. सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।

५. परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।

६. विशेषश्च।

७. पर्यायव्यतिरेकभेदात्।

८. एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।

९. अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।

पञ्चमः परिच्छेदः

१. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।

२. प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।

३. यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः।

षष्ठः परिच्छेदः

१. ततोऽन्यत्तदाभासम्।

२. अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।

३. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।

४. पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्।

५. चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च।

६. अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं, बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत्।

७. वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्।

८. अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।

९. सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशम्, यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम्।

१०. असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, भावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा।

११. इदमनुमानाभासम्।

१२. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।

१३. अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।

१४. सिद्धः श्रावणः शब्दः इति।

१५. बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।

१६. तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा, अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।

१७. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।

१८. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।

१९. शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत्।

२०. माता मे वन्ध्या, पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धवन्ध्यावत्।
२१. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।
२२. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।
२३. अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।
२४. स्वरूपेणासत्त्वात्।
२५. अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्।
२६. तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात्।
२७. सांख्यम्प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात्।
२८. तेनाज्ञातत्वात्।
२९. विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्।
३०. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।
३१. निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवत्।
३२. आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।
३३. शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्।
३४. सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्।
३५. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।
३६. सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।
३७. किञ्चिदकरणात्।
३८. यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्।
३९. लक्षणे एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।
४०. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।
४१. अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्।
४२. विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम्।
४३. विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात्।
४४. व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः, परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत्।
४५. विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम्।
४६. बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता।
४७. अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्वाद्यदित्थं तदित्थं यथा महानसः इति।
४८. धूमवांश्चायम्।
४९. तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्।

५०. स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्।

५१. रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्।

५२. यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः।

५३. अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च।

५४. विसंवादात्।

५५. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम्।

५६. लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चा-सिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७. सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्॥

५८. अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम्।

५९. तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वमप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्।

६०. प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।

६१. विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्।

६२. तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च।

६३. समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्।

६४. परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५. स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत्।

६६. फलाभा(सं)सः प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।

६७. अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।

६८. व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात्।

६९. प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य।

७०. तस्माद्वास्तवो भेदः।

७१. भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।

७२. समवायेऽतिप्रसङ्गः।

७३. प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।

७४. संभवदन्यद्विचारणीयम्।

परीक्षामुखमादर्शः हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ॥२॥